स्वाध्याय स्वमन्थन स्वावलम्बन

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

उत्तर प्रदेश सरकार का एकमात्र मुक्त विश्वविद्यालय

।। सरस्वती नः सुभगा मयस्करत्।।

MAAH-108 N

प्राचीन भारतीय धर्म एवं दर्शन

शान्तिपुरम् (सेक्टर-एफ), फाफामऊ, प्रयागराज - 211013

www.uprtou.ac.in

टोल फ्री नम्बर- 1800-120-111-333

MAAH-108N
प्राचीन भारतीय धर्म एवं दर्शन
(Ancient Indian Religion and Philosophy)

परामर्श समिति

प्रो.सीमा सिंह,	माननीया कुलपति, उ.प्र.राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज
कर्नल विनय कुमार	कुलसचिव, उ.प्र.राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज

पाठ्यक्रम निर्माण समिति (अध्ययन बोर्ड)

प्रो.सन्तोषा कुमार	निदेशक, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ.प्र.राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज
प्रो.जे.एन.पाल	आचार्य(से.नि.) प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय,प्रयागराज
प्रो.हर्ष कुमार	आचार्य, प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय,प्रयागराज
प्रो.राजकुमार गुप्ता	आचार्य, प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग प्रो.राजेन्द्र सिंह रज्जू भैया विश्वविद्यलय,प्रयागराज
डॉ.सुनील कुमार	सहायक आचार्य, प्राचीन इतिहास,समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ.प्र.राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,प्रयागराज

इकाई लेखक	इकाई		कुल इकाई
डॉ.प्रज्ञा मिश्रा, सहायक आचार्य, प्राचीन इतिहास दीन दयाल उपाध्याय राजकीय पी.जी.कालेज,सैदाबाद,प्रयागराज	1,2,3,4,5,6,7	—	07
डॉ.मीनाश्री यादव, सह आचार्य, प्राचीन इतिहास विभाग संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, जगत तारन गर्ल्स पी.जी. कालेज,प्रयागराज	8,9,10,11,12	—	05
डॉ.सुनील कुमार, सहायक आचार्य,प्राचीन इतिहास, समाज विज्ञान विद्याशाखा,उ.प्र.रा.ट.मु.वि.वि.,प्रयागराज	14	—	01
डॉ.सुबास चन्द पाल, सहायक आचार्य,(संविदा),प्राचीन इतिहास समाज विज्ञान विद्याशाखा,उ.प्र.रा.ट.मु.वि.वि.,प्रयागराज	13,15	—	02

सम्पादक

प्रो.राजकुमार गुप्ता — आचार्य, प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग प्रो.राजेन्द्र सिंह रज्जू भैया विश्वविद्यलय,प्रयागराज

पाठ्यक्रम समन्वयक

डॉ.सुनील कुमार, सहायक आचार्य, प्राचीन इतिहास, समाज विज्ञान विद्याशाखा, उ.प्र.राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

MAAH-108N
प्राचीन भारतीय धर्म एवं दर्शन
(Ancient Indian Religion and Philosophy

पाठ्यक्रम/इकाई का शीर्षक

इकाई 1 भारतीय धर्म एवं दर्शन के अध्ययन के स्रोत एवं प्रवृत्ति

इकाई 2 प्रागैतिहासिक धर्म

इकाई 3 वैदिक धर्म और दर्शन, प्रकृति एवं महत्व

इकाई 4 वैदिक देवी एवं देवता–मिथक एवं अनुष्ठान

इकाई 5 भक्ति की उत्पत्ति एवं भक्ति पंथों का विकासः अवधारणा

इकाई 6 वैष्णव धर्म–उत्पत्ति एवं विकास–अवतारवाद का सिद्वान्त, भागवत एवं पांचरात्र

इकाई 7 शैव धर्म–उत्पत्ति एवं विकास–सम्प्रदाय–लिंगायत एवं पाशुपत

इकाई 8 शक्ति–पूजा–एक सर्वेक्षण

इकाई 9 भारतीय दर्शन का इतिहासः न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा एवं वेदांत

इकाई 10 शंकराचार्य का दर्शन

इकाई 11 बौद्ध धर्म–बौद्व धर्म की उत्पत्ति, बुद्ध का जीवन और शिक्षाएं एवं बौद्व संगीति

इकाई 12 प्रारंभिक बौद्ध संप्रदायों का इतिहास, महायान की उत्पत्ति और विकास और हीनयान से उसका संबंध

इकाई 13 बौद्ध धर्म की चार शाखाएँ–सौत्रान्तिक, वैभाषिक, शून्यवाद और विज्ञानवाद

इकाई 14 भारतीय संस्कृति को बौद्व धर्म का योगदान

इकाई 15 जैन धर्म : जैन धर्म की प्राचीनता और उत्पत्ति, पार्श्वनाथ का चातुर्याम, महावीर का जीवन और उपदेश, दिगंम्बर एवं श्वेतांबर संप्रदायों में अंतर, जैन धर्म का प्रसार, भारतीय संस्कृति को जैन धर्म का योगदान

इकाई– 1 भारतीय धर्म एवं दर्शन के अध्ययन के स्रोत एवं प्रवृत्ति

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 भारतीय धर्म

1.3.1 ब्राह्मण धर्म

1.3.1.1 ब्राह्मण धर्म के अध्ययन के स्रोत

साहित्यिक स्रोत

पुरातात्विक स्रोत

1.3.2 बौद्ध धर्म के अध्ययन के स्रोत एवं प्रवृत्ति

1.3.3 जैन धर्म के अध्ययन के स्रोत एवं प्रवृत्ति

1.4 भारतीय दर्शन

1.4.1 सांख्य दर्शन के अध्ययन के स्रोत एवं प्रवृत्ति

1.4.2 योग दर्शन के अध्ययन के स्रोत एवं प्रवृत्ति

1.4.3 न्याय दर्शन के अध्ययन के स्रोत एवं प्रवृत्ति

1.4.4 वैशेषिक दर्शन के अध्ययन के स्रोत एवं प्रवृत्ति

1.4.5 मीमांसा दर्शन के अध्ययन के स्रोत एवं प्रवृत्ति

1.4.6 वेदान्त दर्शन के अध्ययन के स्त्रोत एवं प्रवृत्ति

1.5 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची एवं सहयोगी पाठ्य पुस्तक

1.6 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

भारतीय संस्कृति में धर्म एवं दर्शन का एक महत्वपूर्ण स्थान सदैव से रहा है। धर्म की स्वीकार्यता एक पवित्र प्रेरक तत्व के रूप में रही है जिसमें आचार–विचार, रहन–सहन, रीति–रिवाज, जीवन–प्रणाली तथा प्रक्रिया समाहित है। भारतीय संस्कृति में धार्मिक सहिष्णुता का महत्वपूर्ण स्थान है जो भारत के अन्य दूसरे भू–भागों में जन्मीं संस्कृतियो में दुर्लभ है। भारतीय संस्कृति में धर्म एवं दर्शन का एक दूसरे से बहुत गहरा सम्बन्ध है। दर्शन का आशय साक्षात्कार से है। धर्म और दर्शन में मूल अन्तर यह है कि दर्शन किसी भी विषय को तर्क – वितर्क के द्वारा समझने का प्रयास करता है जबकि धर्म में इसकी आवश्यकता नहीं है। भारत में वेदान्त धर्म और वेदान्त दर्शन, जैन धर्म एवं जैन दर्शन, बौद्ध दर्शन एवं बौद्ध धर्म आदि में धर्म एवं दर्शन में अन्तर नही दिखाई पड़ता।

1.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप

1. भारतीय धर्म के शाखाओं तथा उनकी जानकारी के स्रोत से परिचित हो सकेंगे।
2. भारतीय धर्म एवं दर्शन के सम्बन्ध को जान सकेंगे।
3. भारतीय दर्शन का परिचय प्राप्त करेंगे।

1.3 भारतीय धर्म

प्राचीन भारत में प्रमुख रूप से तीन धर्म आस्तित्व में रहे जिनको राजाओं ने संरक्षण दिया तथा प्रचार – प्रसार हुआ। इन धर्मो में ब्राह्मण धर्म के साथ जैन धर्म और बौद्ध धर्म थे जिनका विकास एवं व्यापक प्रचार – प्रसार हुआ।

1.3.1 ब्राह्मण धर्म

1.3.1.1 ब्राह्मण धर्म के अध्ययन के साहित्यिक स्रोत एवं प्रवृत्ति

ब्राह्मण धर्म के अध्ययन के प्रमुख स्रोत संहिता, ब्राह्मण ग्रंथ, आरण्यक तथा उपनिषद हैं। सहिंता वैदिक मंत्रों का संग्रह है जिसकी संख्या चार है– ऋग्वेदसंहिता, यजुर्वेद संहिता, सामवेद संहिता तथा अथर्ववेद संहिता। होता, अध्वर्यु, उद्गाता तथा ब्रह्मा क्रमशः इन चारों संहिताओं के ऋत्विज थे। होता देवताओं का आवाह्न करके ऋचाओं के पाठ द्वारा स्तुति करता है, अध्वर्यु यज्ञ के विधि पूर्वक सम्पादक का कार्य करता है, उद्गाता मधुर स्वर में सस्वर ऋचाओं का पाठ कर देवताओं को प्रसन्न करता है तथा ब्रह्मा यज्ञ के त्रुटि रहित सम्पादन हेतु निरीक्षण का कार्य करता है। ब्रह्मा का विशिष्ट वेद अथर्ववेद संहिता है।

प्रत्येक वैदिक संहिता की भिन्न–भिन्न ब्राह्मण ग्रंथ हैं जो संबंधित वैदिक संहिताओं के मंत्रों द्वारा यज्ञ की व्याख्या करते थे। ब्राह्मण ग्रंथों में सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक बातों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। यथा– ऐतरेय ब्राह्मण में राज्याभिषेक का नियम तथा राजा एवं राज्य की उत्पत्ति के सिद्धांत का वर्णन प्राप्त होता है।

इनसे सम्बद्ध ग्रंथों की रचना वनों में होने के कारण ये आरण्यक ग्रन्थ कहलाये। सभी वैदिक संहिताओं के शाखाओं के आरण्यक भी भिन्न– भिन्न हैं। इसमें वैदिक कर्मकांड, अनुष्ठान एवं उसके महत्ता पर ऋषियों के चिंतन का वर्णन है तथा इन ग्रंथों में कर्मकाण्ड से स्थान पर ज्ञानकाण्ड पर अधिक बल दिया गया है। इनका लेखन गद्य में हुआ है।

उपनिषदों को वेदांत भी कहा जाता है। वैदिक संहिताओं के ब्राह्मण एवं आरण्यक ग्रंथों की ही भाँति भिन्न–भिन्न उपनिषद ग्रंथ भी हैं। इनमें आत्मा, ब्रह्म तथा संसार आदि पर विमर्श किया गया है। वैदिक साहित्य को समझने के लिए वेदांगों की रचना की गई जो हैं– शिक्षा, कल्प, छंद, निरुक्त व्याकरण तथा ज्योतिष। इनका विवरण अग्रलिखित है–

ऋग्वेद–

पूर्व वैदिक कालीन समाज एवं संस्कृति की जानकारी ऋग्वेद से प्राप्त होती है। इसकी प्राचीनतम पांडुलिपि शारदा लिपि में प्राप्त हुई है। ऋग्वेद भारोपीय भाषा का प्राचीनतम ग्रंथ है जिसकी रचना पद्यात्मक शैली में हुई है तथा इसमें संग्रहित मंत्रों को ऋचा कहा जाता। ऋग्वेद को सूक्त में लिखा गया है जिसकी संख्या 1028 है। इसमें दशमण्डल है इसीलिए इसको दशतयी भी कहा गया है। ऋग्वेद के रचनाकाल को लेकर विद्वानों में मतैक्यता नहीं हैं। परम्परागत भारतीय मत है कि वेद अपौरुषेय हैं परन्तु आधुनिक विद्वानों का मानना है कि इनकी भी रचना उसी प्रकार हुई, जिस प्रकार संस्कृत के अन्य ग्रन्थों की। अपने इसी मत के आधार पर उन्होंने ऋग्वेद के काल–निर्णय का प्रयास किया। ऋग्वेद के रचना काल के विषय में भी विद्वतजन एकमत नहीं हैं। भिन्न–भिन्न विद्वानों ने विद्वानों ने इसका काल भिन्न–भिन्न स्वीकार किया है।
ईसा पूर्व 6000 से ईसा पूर्व 800 तक के मध्य विद्वानों ने अपने तर्कों पर वैदिक काल की भिन्न–भिन्न सीमाएँ निर्धारित की। अधिकांश विद्वानों ने इसकी रचना का काल द्वितीय सहस्त्राब्दी ईसा पूर्व के आस पास स्वीकार किया है। ऋग्वेद की 21शाखाएं हैं जिसमें शाकल, वाष्कल आश्वलायन, शांखायन तथा माण्डूकायन प्रधान है। ऋग्वेद के दशमण्डलों में प्रथम मण्डल में बीस राजाओं के युद्ध का, हलवाहे के गीत का उल्लेख मिलता है। दूसरे से सातवें तक का मण्डल वंश मण्डल कहा जाता है। दूसरा मण्डल गृहत्समद ऋषि का है जिसे विश्व का पहला अभियांत्रिक माना गया है। तीसरे मण्डल में विश्वास को पहला धर्मगुरु माना गया है, इसी में गायत्रीमंत्र का भी उल्लेख है। चौथे मण्डल में कृषि मंत्रो का उल्लेख है। पाँचवा और छठा मण्डल क्रमश अत्रि ऋषि और भारद्वाज ऋषि से सम्बंधित है। सातवें मण्डल का सम्बंध वशिष्ठ ऋषि से है, इसी मण्डल में प्रसिद्ध दशराज्ञ युद्ध का वर्णन तथा मंडूक सूक्त है। आठवा मण्डल कण्व ऋषि का है। नवें मण्डल सोम को समर्पित है। दशवें मण्डल में पुरुष सूक्त, नासदीय सूक्त, नदी सूक्त, हिरण्यगर्भ सूक्त, वाक सूक्त, सूर्य सूक्त आदि हैं।पुरूष सूक्त से वर्णाश्रम की प्राचीनतम जानकारी तथा शुद्र शब्द का प्रथम उल्लेख प्राप्त होता है।

यजुर्वेदः—

यजुर्वेद एक कर्मकाण्डीय ग्रंथ है जिसका पाठ 'अध्वर्यु' पुरोहित द्वारा किया जाता है। यजुर्वेद के दो भाग है कृष्ण यजुर्वेद तथा शुक्ल यजुर्वेद। कृष्ण यजुर्वेद में यज्ञ की विधि तथा आर्थिक एवं न्यायिक प्रक्रियाओं का उल्लेख किया गया है। इसकी रचना पद्यात्मक तथा गद्यात्मक दोनो शैली में हुई है इसकी चार शाखाए हैं – कठ, कपिष्ठल, मैत्रेयी तथा तैत्तिरीय। शुक्ल यजुर्वेद की रचना केवल पद्य में हुई है, इसकी दो शाखा हैं – कण्व तथा मध्यादिनी। शुक्ल यजुर्वेद को वाजसनेयी संहिता तथा मध्यान्दिन संहिता भी कहा जाता है, इसमें 40 अध्याय है, जिसमे विभिन्न यज्ञों से सम्बधित मंत्रों का संकलन है। दशपूर्णमास, अग्निहोत्र, चतुर्मास, सोमयाग, वाजपेय, राजसूय, सोत्रामणि, अश्वमेध आदि यज्ञ प्रमुख यज्ञ हैं।

सामवेद—

सामवेद को भारतीय संगीत का मूल ग्रंथ माना जाता है। इसका गायन करने वाले पुरोहित 'सामग' या 'उद्गाता' कहलाते थे। सामवेदी आचार्यो को कार्त कहा जाता था। इसमें चार प्रकारो के गान का वर्णन मिलता है जिसमें प्रकृतिगान/ग्रामगान/वेयगान, अरण्यगान, उह गान तथा उह्यगान। सामवेद में केवल 75 मंत्र ही ऐसे है जो पूर्व में अवर्णित है शेष मंत्र ऋगवेद से लिये गये है। सामवेद की तीन शाखाए है—कौथुम संहिता, राणायनीय संहिता तथा जैमिनीय संहिता

अथर्ववेद—

अर्थवा ऋषि इस वेद के प्रथम दृष्टा थे इसलिए उनके नाम पर इस वेद का नामकरण किया गया। अंगिरस ऋषि इसके द्वितीय द्रष्टा थे इसलिए इस वेद को अथर्वांगिरस वेद भी कहा जाता है। इसके पुरोहित 'ब्रह्मा' कहलाते है। इसमे यज्ञ से भिन्न विषयों का संकलन किया गया है। इसमें 20 काण्ड तथा 5987 मंत्र है जिसमें 1200 मंत्र ऋग्वेद में से लिया गया है। अथर्ववेद में लौकिक विषयों को महत्व दिया गया है साथ ही इसमें आध्यात्म विद्या, आरोग्य वृद्धि, शत्रुनाश, प्रेत का निवारण, कीट पंतग का नाश, नष्ट वस्तु की प्राप्ति, विवाह, वाणिज्य, पितरों की पूजा आदि का भी उल्लेख किया गया है। इसमें विभिन्न रोगों के निवारण के लिए विधियाँ भी बतलाई गयी है। अथर्ववेद में दार्शनिक सुक्त भी आये है इसको ब्रह्मवेद, श्रेष्ठवेद, सर्वजनीन वेद, सतवेद, महिवेद, भैषज्यवेद, भृंगावरीवेद, भृगवेद, क्षत्रवेद, स्त्रियों एवं शुद्रो का वेद, आमजन का वेद आदि कहा गया है। इसकी तीन संहिता आर्षी संहिता, आचार्य संहिता तथा विधि प्रयोग संहिता का उल्लेख मिलता है। राष्ट्र महिमा और राष्ट्र भाषा जैसी अवधारणाए अथर्ववेद में दृष्टिगोचर होती है। इसके 12वे मण्डल के पृथ्वी युक्त में कहा गया है कि भूमि माता है और मै उसका पुत्र हूँ। अथर्ववेद में नष्ट हुए राष्ट्र की उपमा पानी भरती हुई टुटी नॉव से की गयी है।

ब्राह्मण ग्रंथः—

वेदों की शाखाओं की व्याख्या करने के लिये पृथक ब्राह्मण ग्रंथों की रचना की गई। ब्राह्मण ग्रथों में धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा दार्शनिक विषयों का समावेश है।

ऋगवेद के दो ब्राह्मण ग्रंथ है ऐतेरेय ब्राह्मण जिसे पांञ्चिका भी कहा जाता है तथा कौषतिकी जिसे शंखायन ब्राह्मण के रूप में भी जाना जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण में 40 अध्याय हैं जिसके संकलन कर्ता महिदास थे।

इसमें राज्यभिषेक के नियम, राज्य एवं राजा की उत्पत्ति का सिद्धान्त, राज्यों का भौगोलिक वितरण, शासन प्रणाली, राजसूय यज्ञ, सोम यज्ञ, एन्द्रमहाभिषेक यज्ञ आदि वर्णन है। ऐतरेय ब्राह्मण में चतुर्युग की व्याख्या की गयी है। कौषतिकी बाजण के रचयिता कौषतिकी के शिष्य शंखायन थे। इसमे विभिन्न प्रकार के यज्ञों का विधान दिया गया है तथा रूद्र एवं उनसे जुड़े बातो का भी इसमे उल्लेख है।

यजुर्वेद के शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण शतपथ ब्राह्मण है तथा कृष्ण यजुर्वेद का तैत्तिरीय ब्राह्मण है तैतिरीय ब्राह्मण के रचयिता आचार्य तिन्तिर है इसमें पंच महायज्ञों एवं तीन ऋणों का उल्लेख प्राप्त होता है। इसी ग्रंथ में सर्वप्रथम क्षत्रियों के दो भेद बताये गये है तथा सर्वप्रथम यज्ञोपवीत एवं उसमें महत्व का वर्णन भी इसी ग्रथ में है। इसमे नारी को यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकार दिया गया है। शतपथ ब्राह्मण के लेखक याज्ञवलक्य थे।यह 14 काण्डों एवं 100 अध्यायों में विभाजित है। जिसमें याज्ञवलक्य मैत्रेयी संवाद, विरेह माधव की कथा, पुरूषमेध यज्ञ का वर्णन, उपनयन संस्कार, रामकथा जलप्लावन की कथा, राजा दुष्यन्त एवं भरत की कथा एवं कृषि सम्बन्धित प्रक्रियाओं का वर्णन प्राप्त होता है। शतपथ ब्राह्मण मे ही मत्स्य न्याय का प्राचीनतम वर्णन मिलता है। इसमें पुरूषमेध यज्ञ, अश्वमेधयज्ञ, सर्वमध यज्ञ, पितृमेध यज्ञ आदि यज्ञों का पूर्ण विवरण है। इसमें यज्ञ को प्रजापति तथा प्रजापति को ब्रह्मा कहा गया है। इसमे कुरु–पांचालय कोशल, विदेह, सृंजय आदि का भी उल्लेख मिलता है।

सामवेद के कई ब्राह्मणों का उल्लेख प्राप्त होता है। पंचविश ब्राह्मण जो ताण्डव ब्राह्मण और महाब्राह्मण के रूप में जाना जात है। इसमें से इन्द्र को वर्णों के उत्पत्तिकर्ता के रूप में दिखाया गया है। इसमें ब्राह्मणों से पहले क्षत्रियों को तथा ब्राह्मण के बाद वैश्यों को रखा गया है। पंचविश ब्राह्मण का परशिष्ठ पड्विश ब्राह्मण है। जिसमें जादू टोना भूकम्प अकाल के निदान की व्याख्या की गयी है। ऋषियों के वंशावली का उल्लेख वंश ब्राह्मण में है। जैमिनीय तथा तलवार ब्राह्मण में ओम के महत्व को उद्घटित किया गया है तथा अनुष्टुप छन्द को गायत्री मंत्र की माता कहा गया है। देवताध्याय ब्राह्मण, भाल्लवि ब्राह्मण, आर्षेय ब्राह्मण, उपनिषद ब्राह्मण, संहितोपनियद ब्राह्मण तथा छान्दोग्य ब्राह्मण सामवेद के अन्य ब्राह्मण ग्रंथ है।

अथर्ववेद का एक मात्र ब्राह्मण ग्रंथ गोपथब्राह्मण है जिसमें ब्रह्मा को चारो वेदों को जानने वाला तथा गायत्री को चारो वेदों की माता कहा गया है।

आरण्यक–

इन ग्रंथों की रचना वनो में हुई। ऋगवेद के दो आरण्यक है ऐतरेय एवं कौषितिकी। सामवेद के भी दो आरण्यक है जैमिनीय तथा छान्दोग्य। यजुर्वेद के आरण्यक वृहदारण्यक शतपथ एवं तैप्तिरीय है। उल्लेखनीय है कि नगर का सर्वप्रथम उल्लेख तैत्तिरीय आरण्यक में ही प्राप्त होता है।

उपनिषद् :–

उपनिषद का शाब्दिक अर्थ होता है गुरू के निकट शिष्य का बैठना। यह वैदिक साहित्य का अंतिम भाग है जिसे वेदान्त तथा वेद का ज्ञानकाण्ड भी कहा गया है। मुक्तिकोपनिषद में कुल 108 उपनिषदों का उल्लेख मिलता है जिसमें दस प्राचीनतम तथा प्रमाणिक है। ऋगवेद से सम्बन्धित दो उपनिषद ऐतरेय तथा कौषितिकी है।

छान्दोग्य उपनिषद एवं केन उपनिषद सामवेद से सम्बन्धित है तथा वाजसनेयी ब्राह्मणोपनिषद, तैत्तिरीय उपनिषद, कठोपनिषद, श्वेताश्वर उपनिषद, मैत्रायणी उपनिषद, इशोयनिषद एवं महानारायणीय उपनिषद का सम्बन्ध यजुर्वेद से है ,तो वही गायत्री उपनिषद का सम्बन्ध अथर्ववेद के गोपथब्राह्मण से है।

वेदांग :—

वेदांगो की रचना वेदों को समझने के लिये की गयी जिसमें शिक्षा कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द और ज्योतिष शामिल है। शिक्षा से सम्बन्धित प्राचीनतम साहित्य प्रतिशाख्य है वही अष्टध्यायी संस्कृत की वेदोन्तर साहित्य की प्रारम्भिक रचना के रूप में प्रतिष्ठित है हालाँकि इन्द्र को तैत्तिरीय संहिता में प्रथम वैयाकरण बताया गया है। निरूक्त की रचना यास्क ने की परन्तु इससे प्राचीन ग्रंथ निधुष्ट में भी वैदिक कठिन शब्दों का संकलन है। छन्द पर पिंगलमुनि रचित छन्दशास्त्र प्राचीन ग्रंथ के रूप में तथा लगधमुनि कृत वेदांग ज्योतिष, ज्योतिष के प्राचीनतम ग्रंथ के रूप में प्रतिष्ठित है।

सूत्र साहित्यः—

सूत्र साहित्य का प्रणयन वैदिक साहित्य को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये किया गया। श्रौत सूत्र के अध्ययन से यज्ञीय विधि विधानों के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। गृह्यसूत्रो में दैनिक क्रियाओं तथा विधि विधानों का वर्णन है। 16 संस्कार, पंच महायज्ञ आदि गृहयसूत्र में ही वर्णित है। धर्मसूत्र में सामाजिक विधि विधानों का वर्णन प्राप्त होता है। प्रमुख सूत्रकार गौतम, आपस्तम्ब, बौधायन, वशिष्ठ, सांख्यायन, आखलायन इत्यादि है।

महाकाव्यः—

वैदिक साहित्य के पश्चात रामायण और महाभारत महाकाव्यों का काल आता है महाकाव्यों का रचना काल चौथी शताब्दी ई0 पू0 है तथा इनका वर्तमान आकार गुप्तकाल में निर्मित हुआ। इन दोनो धार्मिक ग्रंथों के लिए भारतीयों के हृदय में आदरणीय स्थान है। महर्षि वाल्मिकी द्वारा रचित रामायण में सात काण्ड है तथा भगवान राम इसके नायक है इसमें 18 तीर्थो का वर्णन मिलता है। महाभारत वेदव्यास की रचना है इसमे प्राचीन भारतीय सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक दशा का विवरण प्राप्त होता है। महाभारत में वाल्मिकी तथा रामायण का भी वर्णन प्राप्त होता है महाभारत में वर्णित है कि धर्म, अर्थ काम एवं मोक्ष के विषय में जो कुछ इसमें है वह अन्यत्र कहीं नहीं है श्रीमदभगवदगीता इसके छठवें अध्याय के भीष्मपर्व का भाग है। इसके नारायणीय खण्ड में वैष्णव धर्म से सम्बन्धित व्यूह सिद्धांत का वर्णन मिलता है।

पुराणः—

लोमहर्ष अथवा उनके पुत्र उग्रश्रवा को पुराणों का रचयिता माना गया है। मुख्य रूप से 18 महापुराणों तथा 39 उप—पुराणों का वर्णन प्राप्त होता है। 'पुराण' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग अथर्ववेद में हुआ है। छान्दोग्य उपनिषद में नारदमुनि ने इतिहास पुराण को पंचमवेद कहा है। धर्म एवं दर्शन के स्रोत के रूप में पुराणो का विशिष्ट स्थान है। ब्रह्मपुराण में तीर्थो की महिमा, सूर्य—पूजा, एवं सांख्य—योग के विषय में वर्णन प्राप्त होता है। वायुपुराण में पशुपतयोग एवं शिवचरित का विस्तृत उल्लेख प्राप्त होता है। भारतीय लोक में प्रचलित देवी उपासना ग्रंथ दुर्गा सप्तशती मार्कण्डेय पुराण का भाग है तथा प्रसिद्ध सत्यनारायण कथा का वर्णन स्कन्द पुराण में प्राप्त होता है।

अग्निपुराण समस्त भारतीय विद्याओं के विश्व कोष के रूप में प्रतिष्ठित है इसमें फलित ज्योतिष से सम्बन्धित विशद विवरण प्राप्त होता है तथा हस्तरेखा पर प्राचीनतम विवरण गरूड़ पुराण में प्राप्त होता है। कुर्मपुराण में वर्णाश्रम धर्म का वर्णन प्राप्त होता है। नारदीय पुराण में वैष्णवों के पाञ्चरात्र का विशद वर्णन है। कुछ पुराणों के रचना देव विशेष को केन्द्र में रखकर की गयी है यथा–शिवपुराण, विष्णु पुराण इत्यादि। इनके अध्ययन से देव विशेष से जुड़ी जानकारियाँ प्राप्त होती हैं।

धर्मशास्त्र –

धर्मशास्त्र के अंतर्गत धर्मसूत्र, स्मृति, भाष्य, निबन्ध आदि आते है। गौतम, आपस्तम्ब तथा वशिष्ठ के धर्मसूत्र सबसे प्राचीन है। कालान्तर में स्मृतियों ने धर्मसूत्र का स्थान ले लिया। स्मृतियों की रचना पद्य में हुई जबकि धर्मसूत्र गद्य में लिखे गये थे। पद्मपुराण, बुद्धगौतम तथा वीरमित्रोदय में स्मृतियों की संख्या क्रमशः 36,56 तथा 57 बतायी गयी है। स्मृतियों में अनुस्मृति, नारदस्मृति, यासवल्वय स्मृति, पाराशर स्मृति, बृहस्पति स्मृति, कात्यायन स्मृति तथा देवस स्मृति प्रमुख है।

इन साहित्यिक ग्रंथों के अन्य अनेक ऐसे ग्रंथ है जिनमें ब्राह्मण धर्म विषयक जानकारियाँ वर्णित है सम्बन्धित अध्यायों के साथ आप उन स्रोतो से भी परिचित हो सकेंगें।

ब्राह्मण धर्म के अध्ययन के पुरातात्विक स्त्रोतः– साहित्यिक साक्ष्यों के अतिरिक्त पुरातात्विक साक्ष्यों से भी धर्म विषयक जानकारी प्राप्त होती है जिनका विस्तृत वर्णन आगे की इकाईयों में है। अभिलेख, मूर्तियाँ, मन्दिर, मुहर, पात्र आदि प्रमुख पुरातात्विक स्त्रोत है। प्राग्वैदिक धर्म को जानने के लिये हमारी निर्भरता पूर्ण रूप से पुरातत्विक साक्ष्यों पर ही है। हड़प्पाई धर्म पर अब तक साहत्यिक साक्ष्यों की पुष्टि के लिये भी पुरातात्विक साक्ष्य एक महती भूमिका अदा करता है।

1.3.2 बौद्ध धर्म के अध्ययन के स्रोत एवं प्रवृत्ति

बौद्ध धर्म के अध्ययन के हेतु साहित्यिक एवं पुरातात्विक दोनो ही साक्ष्य प्राप्त होते है। हम यहाँ पर आपसे प्रमुख साक्ष्यों की चर्चा करेंगे। अनेक पुरातात्विक एवं साहित्यिक स्रोतों का उल्लेख आगे की इकाईयों में सन्दर्भ के साथ है। बौद्ध धर्म की जानकारी का सर्वप्रमुख स्रोत त्रिपटक है, ये सुतपिटक, विनयपिटक तथा अभिधम्मपिटक है। सुत्तपिटक में बुद्ध के धार्मिक सिद्धांतो का संवाद के रूप में वर्णन है। सुतपिटक को पाँच निकायों में विभाजित किया गया है– दीधनिकाय, मज्झिमनिकाय, अंगुत्तरनिकाय, संयुक्तनिकाय एवं खुद्दक निकाय। महापरिनिर्वाणसुत्त दीघनिकाय का अंतिम भाग है जिसमें बुद्ध के अंतिम उपदेश का वर्णन है। बुद्ध एवं महावीर स्वामी के मिलने का वर्णन मज्झिमनिकाय में प्राप्त होता है, अंगुन्तरनिकाय में बुद्ध के स्वप्न के विषय में बताया गया है तथा इसी में सुजाता को दिये गये उपदेश का भी संकलन है। खुद्दकनिकाय में बुद्ध के पूर्वजन्म के कथाओं का वर्णन है।

बौद्ध संघ की स्थापना एवं संघ के नियमों का वर्णन विनयपिटक में किया गया है। इसमें महावीर स्वामी एवं गौतमबुद्ध को एक ही काल का बताया गया है। विनयपिटक के दो प्रमुख भाग है – विभंग एवं स्कंदक। अभिधम्मपिटक में बौद्ध धर्म के दार्शनिक पक्षों का वर्णन है यह प्रश्नोत्तर शैली में लिखा गया है तथा इसमें संस्कृत का प्रयोग मिलता है। इसके संकलनकर्ता मोगलिपुततिस्स थे जिन्होने हीनयनान सम्प्रदाय के प्रमुख ग्रंथ कथावस्तु

की रचना की। निदानकथा में बुद्ध के जीवनचरित का वर्णन मिलता है। मिलिन्दपन्हो, दीपवंश तथा महावंश में भी बौद्ध धर्म से सम्बन्धित विवरण प्राप्त होता है। नेतिगन्ध नामक पुस्तक में बुद्ध के उपदेशों का वर्णन प्राप्त होता है। महायान के उदय के साथ बौद्ध धर्म से सम्बन्धित ग्रंथो की रचना संस्कृत में भी आरम्भ हुई इनमे अवदानसाहित्य, अशोकावदान, दिव्यावदान, तथा ललित बिस्तर आदि ग्रंथ प्रमुख है। विभाषाशास्त्र को बौद्ध धर्म का बाइबिल कहा जाता है जो चौथी बौद्ध संगीति में तैयार हुई। वज्रयान सम्प्रदाय का प्रमुख ग्रंथ गुह्य समाज एवं मंजूश्रीमूलकल्प है। सुचन्द्रकृत विमलप्रभा से कालचक्रयान तथा आन्ध्रपथ के अभिलेखों में चेतकीय सम्प्रदाय से सम्बन्धित जानकारी प्राप्त होती है। भारतीय सीमा के बाहर भी बौद्ध धर्म का प्रसार हुआ तिब्बत, चीन, जावा, वर्मा आदि राष्ट्रों से भी बौद्ध धर्म से सम्बन्धित ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त होती है जो बौद्ध धर्म के अध्ययन, प्रचार एवं प्रसार का प्रमुख स्त्रोत है।

1.3.3 जैन धर्म के अध्ययन के स्रोत एंव प्रवृत्ति

जैन धर्म के अध्ययन के स्रोत के रूप में पुरातात्विक तथा साहित्यिक साक्ष्यों की उपलब्धता है। हम यहाँ प्रमुख स्रोतों का उल्लेख करेंगे तथा आगे की इकाइयों में स्रोतो का सम्बन्धित विषय के साथ विस्तार से वर्णन किया गया है। पुराणों का जैन धर्म में भी महत्वपूर्ण स्थान है। जैन धर्म के प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव की जीवनी का वर्णन आदिपुराण में प्राप्त होता है। भगवतीसूत्र में तीर्थकरों की जीवनियॉ मिलती है। जैनधर्म के प्रारम्भिक इतिहास को जानने के लिये कल्पसूत्र एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है जिसकी रचना भद्रबाहु के द्वारा हुई। जैन भिक्षुओं के आचारों का नियम आचारांगण सूत्र में प्राप्त होता है तथा नया धम्मकहासूत्र में कथाओं के माध्यम से महावीर की शिक्षाओं का उल्लेख है। उवासगदसाड्यों में महावीर द्वारा दिये गये निर्देश का वर्णन है। पंचमहाव्रतों एवं जैन धर्म से सम्बन्धित अन्य नियमों का वर्णन पण्हावागरणाई से प्राप्त होता है। महाभारत से 22वे तीर्थकर अरिष्टनोमि के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। दक्षिण भारत में जैन धर्म के प्रसार का उल्लेख मैसूर के श्रवण वेलगोला के अभिलेख में हुआ है अनेक गुहालेखो द्वारा भी जैनधर्म के विषय में जानकारी प्राप्त होती है।

1.4 भारतीय दर्शन

भारतीय दर्शन को छः भागों में बांटा गया हैं जो निम्नवत हैं –

1. सांख्य दर्शन।
2. योग दर्शन।
3. न्याय दर्शन।
4. वैशेषिक दर्शन।
5. मीमांसा दर्शन।
6. वेदान्त दर्शन।

इन सभी दर्शन के विषय में सुचनाएं विभिन्न स्रोतों से प्राप्त होती है जो निम्नवत है–

सांख्य दर्शन के अध्ययन के स्रोत एवं प्रवृत्तिः—

सांख्य दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कपिल हैं। इस दर्शन के विषय में जानकारी 'सांख्यकारिका' नामक ग्रंथ से प्राप्त होती हैं जिसकी रचना श्री कृष्ण द्वारा की गई थी। इस ग्रंथ से ज्ञात होता हैं कि सबसे प्राचीन धार्मिक सम्प्रदाय सांख्य हैं। गोविन्द चन्द्र पाण्डेय सांख्य दर्शन की उत्पत्ति अवैदिक श्रमण विचारधारा से मानते हैं।

गीता और महाभारत में सांख्य शब्द प्रयोग ज्ञान के अर्थ में किया गया हैं। इन ग्रंथों के अनुसार सांख्य दर्शन सम्यक ज्ञान दर्शन हैं।

सांख्य दर्शन के सिद्धांत से संबन्धित सत्यकार्यवाद सिद्धांत के विषय में भी सूचनाएं विभिन्न ग्रंथों से प्राप्त होती हैं —

सत्कार्यवाद इसका अर्थ हैं कि कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व कारण में विद्यमान रहता हैं। बौद्ध तथा न्यायवैशेषिक आदि ग्रंथों में सूचनाएं मिलती हैं कि कार्य अपने उत्पत्ति के पूर्व कारण में विद्यमान नहीं होता है इसकी उत्पत्ति सर्वथा नई होती है।

सांख्यकारिका ग्रन्थ में भी इससे सम्बधित जानकारी मिलती हैं कि —

''असदकारणात् उपादान ग्रहणात् सर्वसंभवाभावात् शक्तस्य शक्यकरणात् करणाभावाच्च सत्कार्यम्।''

अतः इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कार्य मूलतः अपने कारण में विद्यमान हैं।

सांख्यकारिका ग्रन्थ में जगत की उत्पत्ति और विकास से संबंधित तथ्य भी निहित हैं। जिसके अनुसार पुरूष को भोग और कैवल्य दोनों के लिए ही प्रकृति की आवश्यकता होती हैं तथा प्रकृति को ज्ञात होने के निमित पुरूष की आवश्यकता होती हैं। सृष्टि के द्वारा मनुष्य के आवश्यकता के अनुरूप वस्तुएँ निर्मित हुई। जब मनुष्य प्रकृति से स्वयं को अलग कर अपना अस्तित्व स्थापित कर लेता हैं तो मनुष्य को मुक्ति प्राप्त हो जाती है। जिस तरह अंधे और लंगड़े एक दूसरे का सहयोग करके जंगल पार कर लेते हैं उसी प्रकार जड़, प्रकृति, और चेतन पुरूष परस्पर अलग होते हुए भी एक दूसरे का सहयोग कर सृष्टि की रचना करते हैं।

''पुरूषस्य दर्शनार्थम् कैवल्यार्थम् तथा प्रधानस्य पंग्वन्धवद् उभयोरपि संयोगस् तत्कृतः सर्गः।''

बन्धन तथा मोक्ष से संबन्धित जानकारियां भी ग्रंथों में निहित है जिनमें वर्णित हैं कि सुख और दुःख पुरूष से संबन्धित न होकर मन से संबन्धित विषय हैं परन्तु अज्ञानता के कारण पुरूष प्रकृति के विकार तथा बुद्धि और अहंकार से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता हैं और इस अज्ञानता के कारण स्वयं को शरीर और इंद्रिय, मन और बुद्धि समझने लगता है और कई दुखों से युक्त हो जाता हैं। अतः अज्ञान ही एकमात्र दुःख का कारण हैं तथा ज्ञान ही इन दुःखों से मुक्ति पेन का एक मात्र उपाय हैं।

''ज्ञानेन चापवर्गओ विपर्ययात् इष्यते बन्धः।''

योगदर्शन में वर्णित है कि विवेक ज्ञान का तात्पर्य मनुष्यों द्वारा स्वयं को प्रकृति के विकारों से अलग कर लेना है। विवेक ज्ञान की प्राप्ति साधना द्वारा सम्भव हैं जिसका विवरण योगदर्शन में वर्णित है।

वेदांत तथा योग के प्रभाव से ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया हैं और यह मत प्रकट किया है कि ईश्वर के सानिध्य प्राप्ति से ही प्रक्रति का विकास होता हैं। जिस तरह से चुम्बक के सम्पर्क में आकर लोहे में गतिशीलता आती हैं उसी प्रकार ईश्वर के सानिध्य में आने पर प्रक्रति में भी गतिशीलता का संचार होता हैं।

1.4.2 योगदर्शनके अध्ययन के स्त्रोत एवं प्रवृत्ति

योग दर्शन के प्रवर्तक महर्षि पतंजलि हैं, तथा योग दर्शन का मूल योगसूत्र में निहित हैं। 'योग' का अर्थ मिलन से है अर्थात आत्मा का परमात्मा से मिल जाना। गीता में कहा गया हैं कि ''समत्वम् योग उच्चयते।'' योग जिसे भी प्राप्त होता हैं वह व्यक्ति सुख–दुःख, हानि–लाभ, जय–पराजय आदि स्थितियों में समान भावना रखता हैं।

पतंजलि के अनुसार योग एक आध्यात्मिक प्रयास है जिसमें मनुष्य अपने बाह्य एवं आंतरिक इन्द्रियों पर नियंत्रण स्थापित कर लेता है। योग दर्शन में सांख्य दर्शन के अनेक तत्वों को स्वीकारते हुए योग को ईश्वर सांख्य कहा गया है।

योगसूत्र में बुद्धि, अहंकार तथा मन आदि चितवृत्तियों के निरोध को योग कहा गया हैं –

''योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।''

योग सूत्र में शरीर, मन, इन्द्रिय पर विजय प्राप्त करने के लिए आठ साधन बताए गए हैं जिन्हें अष्टांग योग कहा गया हैं ये आठ साधन निम्नलिखित हैं–

1. यम
2. नियम
3. आसान
4. प्राणायाम
5. प्रत्याहार
6. धारणा
7. ध्यान
8. समाधि।

योग दर्शन में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया गया है। पतंजलि ने ईश्वर को को क्लेश, कर्म, परिणाम, आशय, आदि से अप्रभावित बताया है।

''क्लेशकर्म विपाकाशयैः अपरामृष्टः पुरूषविशेषः ईश्वर।''

पतंजलि द्वारा प्रतिपादित इस दर्शन की स्वीकार्यता समस्त भारतीय दर्शन में है। चावार्क दर्शन इसका अपवाद है।

1.4.3 न्याय दर्शन के अध्ययन के स्त्रोत एवं प्रवृत्ति

गौतम, जिन्हे अक्षपाद भी कहा गया है, को न्याय दर्शन का प्रवर्तक माना जाता है। न्याय दर्शन का मूलग्रन्थ न्यायसूत्र है जिसकी रचना गौतम ने की। वात्स्यायन ने उस पर 'न्यायभाष्य' नामक टीका लिखा। न्याय दर्शन के प्रमुख दार्शनिकों में वाचस्पति, उदयन, उद्योतकर, जगंत आदि हैं।

न्याय दर्शन में मोक्ष प्राप्ति हेतु सोलह तत्त्वों के सम्यक् ज्ञान को आवश्यक बताया गया है। ये तत्त्व हैं–

(1) प्रमाण

(2) प्रमेय

(3) संशय

(4) प्रयोजन

(5) दृष्टांत

(6) सिद्धांत

(7) अवयव

(8) तर्क

(9) निर्णय

(10) वाद

(11) जल्प

(12) वितंडा

(13) हेत्वाभास

(14) छल

(15) जाति

(16) निग्रह स्थान

न्याय दर्शन ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखता हैं तथा इसे सिद्ध भी करता हैं। न्याय दर्शन के अनुसार ईश्वर ही जगत का कर्ता, धर्ता, एवं संहकर्ता हैं। ईश्वर की कृपा से ही आत्मा तत्वज्ञान प्राप्त कर मोक्ष की प्राप्ति करता है।

न्याय कुसुमांजलि ग्रन्थ के अनुसार व्यक्ति अपने कर्मों के ही फल भोगता हैं पाप और पुण्य जो अदृश्य हैं इसका संचालन ईश्वर की प्रेरणा से ही सम्भव हैं।

''कार्यायोजनधृत्यादेह पदात् प्रत्ययः श्रुतेः।

वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः।।''

1.4.4 वैशेषिक दर्शन के अध्ययन के स्रोत एवं प्रवृत्ति

वैशेषिक दर्शन का प्रवर्तन महर्षि कणाद द्वारा हुआ। कणाद कृत वैशेषिक सूत्र वैशेषिक दर्शन का मूल ग्रंथ है। इस ग्रंथ पर प्रशस्त्रपाद ने 'पदार्थसंग्रह' ग्रंथ के रूप में टीका लिखा। श्रीधर तथा उदयन ने भी वैशेषिक सूत्र पर टीका लिखी।

वैशेषिक सूत्र समस्त पदार्थों के विभाजन दो भागों में हैं–

1. भाव
2. अभाव

भाव का तात्पर्य उन पदार्थों से हैं जो विद्यमान हैं जिनकी संख्या छः हैं–

1. द्रव्य
2. गुण
3. कर्म
4. सामान्य
5. विशेष
6. समन्वय

वैशेषिक दर्शन के अनुसार सृष्टि का कर्ता ईश्वर हैं जो अचेतन अदृष्ट को परिचालित करता हैं। यह दर्शन ईश्वर, आत्मा, कर्म सिद्धांत को स्वीकार करता है। यह दर्शन भक्ति को स्थान नहीं प्रदान करता परन्तु जीवात्मा एवं ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकारता है। श्री हर्ष ने इस दर्शन को 'वास्तविक उलूक दर्शन' तथा शंकराचार्य ने 'अर्द्धवैनाशिक' कहा है।

1.4.5 मीमांसा दर्शन से संबन्धित स्रोत

मीमांसा का उद्देश्य वैदिक कर्मकांडो पर निर्णय के साथ ही उसकी महत्ता को सिद्ध करना हैं। पूर्व मीमांसा की प्रवर्तक जैमिनी है तथा इनका ग्रन्थ मीमांसा सूत्र इस प्रमुख ग्रंथ है। हैं। शबर स्वामी ने इस पर टीका लिखा हैं। कुमारिल भट्ट और प्रभाकर इसके अन्य प्रमुख दार्शनिक हैं। मीमांसा का प्रधान विषय धर्म हैं।

"धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम्।"

मीमांसा दर्शन छः प्रमाणों को स्वीकार करता हैं –

1. प्रत्यक्ष
2. अनुमान
3. शब्द
4 उपमान
5. अर्थापत्ति
6. अनुपलब्धि।

अनुपलब्धि को केवल भाट्टमीमांसक स्वीकार करते हैं। मीमांसा दर्शन दो प्रकार के ज्ञान को मानता है– प्रत्यक्ष और परोक्ष।

कुमारील ने साक्षांत प्रतीति को प्रत्यक्ष कहा हैं – साक्षात् प्रतीतिः प्रत्यक्षः।

मीमांसा दर्शन में भ्रम को महत्ता नहीं दी गई हैं। प्रभाकर जी के मतानुसार सभी ज्ञान सत्य हैं। जबकि कुमारिल महोदय के अनुसार मिथ्या वस्तु में भी सत्य हों सकता हैं। मीमांसा संसार और इसके सभी विषयों की सत्यता को स्वीकार करता हैं। यह अनेकात्मवाद का समर्थक है, इस दर्शन में धर्म का अधिक महत्व हैं। जैमिनी के अनुसार धर्म वह आदेश हैं जो मनुष्य को कर्म के लिए प्रेरित करता हैं– चोदना लक्षणोंर्थोधर्मः।

1.4.6 वेदान्त दर्शन के अध्ययन के स्त्रोत एवं प्रवृत्ति

वेदान्त का आशय वेदों को समझने हेतु रचित ज्ञानमार्गी अंश से है जिसमें उपनिषद्, वेदान्त सूत्र, आदि प्रमुख हैं। वेदान्त दर्शन का विकास मुख्य रूप से दो शाखाओं में हुआ–

1. अद्वैतवाद
2. द्वैतवाद।

अद्वैतवाद के प्रवर्तक दार्शनिक शंकराचार्य तथा द्वैतवाद के प्रवर्तक दार्शनिक आचार्य रामानुज एंव मध्व हैं। वेदान्त दर्शन के विषय में ब्रह्मसूत्र भाष्य, उपनिषद् भाष्य, गीता भाष्य, श्रीमद्भगवद्गीता, विवेक चूड़ामणि, प्रबोध सुधाकर, उपदेश साहीस्त्र, अपरोक्षानुभूति, पंचीकरण, प्रपंचसारतंत्र, मनीषपंचम, आनंदलहरी स्त्रोत, तरंगिणि, गुरुचन्द्रिका आदि ग्रंथों से विस्तृत सूचना प्राप्त होती है।

14.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची एवं सहयोगी पाठ्य पुस्तक

- आपस्तम्ब धर्मसूत्र
- ऐतरेय आरण्यक
- ऐतरेय ब्राह्मण
- ऋग्वेद
- यजुर्वेद
- अथर्ववेद
- सामवेद
- ब्राह्मण पुराण
- वायु पुराण
- मत्स्य पुराण
- कोशाम्बी, दामोदर दास धर्मानन्द, प्राचीन भारत की संस्कृति एवं सभ्यता– एक ऐतिहासिक रूपरेखा, 1977
- दूबे, हरिनारायण, पुराण–समीक्षा, इलाहाबाद, 1984

- दूबे, डॉ0 हरिनारायण, भारतीय संस्कृति, इलाहाबाद, 2018–19
- राय, सिद्धेश्वरी नारायण, पौराणिक धर्म एवं समाज, इलाहाबाद, 1968

14.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1. ब्राह्मण धर्म के स्रोतों की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
2. भारतीय दर्शन के प्रकारों का वर्णन करते हुए उनके स्त्रोतों पर प्रकाश डालिए।

इकाई 2 प्रागैतिहासिक धर्म

इकाई की रूपरेखा

2.0 प्रस्तावना

2.1 उद्देश्य

2.2 भारतीय प्रागैतिहासिक संस्कृति का परिचय

2.3 प्रागैतिहासिक धर्म

2.4 सारांश

2.5 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

2.6 सहयोगी पाठ्य पुस्तकें

2.7 निबन्धात्मक प्रश्न

2.0 प्रस्तावना

प्रागैतिहासिक का आशय मानव विकास के उस चरण से है जहाँ मनुष्यों का परिचय लेखन कला से नहीं हो सका था। मनुष्य की निर्भरता पाषाणों पर अधिक थी और वहीं से मनुष्य के विकास यात्रा का आरम्भ हो रहा था। प्रागैतिहासिक मानव का अध्ययन करते समय सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक स्वरूपों को समझते हुए धर्म को लेकर भी हमारे मन में एक जिज्ञासा का जन्म होता है। धर्म की परिकल्पना कैसे आई होगी, धर्म का स्वरूप क्या रहा होगा, धार्मिक प्रतीक कैसे रहे होंगे आदि अनेक प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होते हैं और इनका उत्तर देने के लिये हमारे सामने कोई लिखित साक्ष्य नहीं है। हमारे पास मात्र पुरावशेष हैं जिनका अध्ययन अनेक पुरातत्त्वशास्त्रियों एवं मानवशास्त्रियों द्वारा किया गया है।

2.1 उद्देश्य

- प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप
- प्रागैतिहासिक संस्कृतियों का सामान्य परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- प्रागैतिहासिक धर्म के विषय में जानेंगे।

2.2 भारतीय प्रागैतिहासिक संस्कृति का परिचय

प्रागैतिहासिक मानव की संस्कृति की जानकारी का माध्यम उनके द्वारा प्रयोग किये उपकरण है। इन उपकरणों के निर्माण की तकनीक, आकार–प्रकार तथा प्रयुक्त प्रस्तर अथवा धातुओं के द्वारा हम मनुष्य के विकास का अध्ययन करते हैं। मानव का आरम्भिक जीवन पाषाणेंपकरण पर अधिक निर्भर था इसलिये मानव संस्कृति का आरम्भिक काल पाषाण काल के नाम से जाना जाता है। भारत में पाषाणकालीन संस्कृति के अनुसंधान का आरम्भ मद्रास के पल्लवरम् नामक स्थान से हुआ जहाँ 1863 ई0 में राबर्ट ब्रुस फुट नामक विद्वान को एक प्रस्तर उपकरण मिला इसी क्रम में विलियम किंग, ब्राउन, काकबर्न, सी.एल. कालाइल के अनुसंधान भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में डी0 टेरा एवं पीटरसन नामक विद्वानों के निर्देशन में शिवालिक पहाड़ियों की तलहटी में स्थित सोहन नदी वेदिका एवं पोतवार पठारी क्षेत्र के व्यापक सर्वेक्षण से भारतीय पाषाणकालीन संस्कृति के विषय में अनेक तथ्य प्रकाश में आये।

पाषाणकाल को अध्ययन की सुविधा के लिये तीन उपविभागों में विभक्त किया गया है –

(i) पुरापाषाण काल

(ii) मध्यपाषाण काल

(iii) नवपाषाण काल

पुरापाषाण काल भी विद्वानों ने उपकरणों के आकार–प्रकार तथा निर्माण तकनीक के आधार पर तीन भागों में विभाजित किया –

(i) निम्न–पुरा पाषाण काल

(ii) मध्य–पुरा पाषाण काल

(iii) उच्च–पुरा पाषाण काल

निम्न पुरा पाषाण काल

भारतीय भू–भाग में अनेक क्षेत्रों से निम्न पुरा पाषाणकालीन अवशेष प्राप्त हुए है यथा– सोहन घाटी, नर्मदा घाटी, करीमपुड़ी, बेलन नदी घाटी, प्रवरा नदी घाटी, कृष्णा नदी घाटी आदि। प्राप्त उपकरणों के आधार पर विद्वानों ने इसे चॉपर–चापिंग पेबुल संस्कृति तथा हैण्डिक्स संस्कृति के रूप में विभाजित किया है। सोहन नदी घाटी से उत्तर भारत में मनुष्य का प्राचीन साक्ष्य मिला है जिसे आरम्भिक सोहन कहा जाता है। जैसा कि संस्कृतियों के नामकरण से ही स्पष्ट है सोहन संस्कृति जिसे चॉपर चॉपिंग पेबुल संस्कृति के नाम से भी जाना जाता है, में चॉपर–चॉपिंग और पेबुल उपकरण की अधिकता थी तथा मद्रास संस्कृति जिसे हैण्डेक्स संस्कृति भी कहा जाता है, के पुरास्थलों पर हैण्डेक्स, क्लीवर, स्क्रैपर आदि उपकरण अधिक संख्या में प्राप्त हुए है। इन उपकरणों के निर्माण में अधिकांशतः क्वंट्जाइर पत्थर का उपयोग हुआ है।

मध्य पुरा पाषाण काल

भारतीय भू–भाग के महाराष्ट्र, गुजरात, आंध्र प्रदेश, उड़ीसा, कर्नाटक, पश्चिम बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, पंजाब, जम्मू कश्मीर आदि सभी क्षेत्रों से मध्य पुरा पाषाण कालीन संस्कृति के अवशेष प्राप्त होते हैं। इस समय उपकरणों के निर्माण के लिये क्वार्ट्जाइर के स्थान पर चर्ट तथा जैस्पर जैसे प्रस्तरों का अधिक उपयोग किया गया तथा फलक एवं फलक तथा ब्लेड पर इनका निर्माण किया गया है। खुरचनी, बेंधक, बेधनिया तथा फलक जैसे शल्क इस काल के प्रमुख उपकरण थे। कहीं–कहीं से हैण्डेक्स एवं स्लीवर उपकरण भी प्राप्त हुए है।

उच्च पुरा पाषाण काल

भारतीय भू–भाग में बेलन तथा सोनघाटी, सिंहभूमि, जोगदहा, भीमबेटका, रामपुर, बाघोर, पटणे, इनामगांव, रेणुगुत्ता, कर्नूल गुफा, शोसपुर दोआब, विशदी, बूढ़ा पुष्कर आदि अनेक स्थानों से उच्च पुरा पाषाणकालीन सम्बन्धित पुरावशेष प्राप्त होते हैं। इस काल में प्रमुख प्रस्तर उपकरण ब्लेड था जिसका निर्माण चर्ट, जैस्पर, ज्लिन्ट आदि पत्थरों से किया जाता था। प्रयागराज जनपद के बेलन घाटी के लोहदानाला से मिली मातृदेवी की मूर्ति इसी काल की है। अब तक मनुष्य आग से परिचित नहीं हो सका था और न ही उसके पास निवास स्थल था। उनका भोज्य पदार्थ मांस तथा कन्दमूल था।

मध्य पाषाण काल –

प्रो. राधाकान्त वर्मा के अनुसार, इस काल में अत्यधिक वर्षा के कारण पहाड़ी तथा पठारी, भू–भागों में घने–जंगलों का उदय हुआ। वर्षा की अधिकता के परिणामस्वरूप मैदानी भू–भागों का विस्तार हुआ तथ साथ–साथ वे वनस्पतियों से हरे–भरे हो गये। इन बदली हुयी परिस्थितियों ने जनसंख्या वृद्धि को प्रोत्साहित

किया और छोटी–छोटी टोलियाँ आहार का संग्रह एक साथ करने लगी और बसने लगी। इस काल में मनुष्य परिवार नामक इकाई से परिचित हुआ तथा कृषि कर्म में भी अपना कदम रखा।

इस काल के उपकरण अत्यन्त छोटे थे जिसमें ब्लेड, छिद्रक, स्क्रैपर, ब्यूरिन, बेधक, चान्द्रिक आदि प्रमुख थे जिनका निर्माण चर्ट, चल्सेडनी, जैस्पर, एगट, क्वार्टजाइट, फ्लीन्ट आदि प्रस्तरों पर हुआ है। इस काल में अस्थियों तथा पशुओं की सींग के उपकरण भी प्राप्त होते हैं। हत्या का साक्ष्य, मनुष्य के अस्थि पंजर, चूल्हे आदि का प्रमाण इस काल में मिलना आरम्भ हो गया है। इस काल में मनुष्यों में लोकोत्तर जीवन की भावना का विकास हो चुका था। मध्य पाषाण कालीन उपकरणों को विद्वानों ने ज्यामितीय तथा अज्यामितीय लघु प्रस्तर उपकरण के रूप में वर्गीकृत किया है। मोरहना पहाड़ तथा बघईखोर पुरास्थलों से मध्यपाषाण कालीन उपकरण उद्योग के अवस्थाओं का पता चला है।

(1) अज्यामितीय प्राक्मृदभाण्ड निर्माण अवस्था

(2) ज्यामितीय प्राक्मृदभाण्ड अवस्था

(3) ज्यामितीय मृदभाण्ड अवस्था

(4) अल्पक ज्यामितीय उद्योग

इस काल के प्रमुख पुरास्थल, सराय नाहर राय, महदहा, दमदमा, बेलन नदी घाटी, बघहीखोर, लेखहिया, मोरहना पहाड़, बीरभानपुर, नागार्जुनकोंडा, आदमगढ़, लंघनाज, अतिरमपक्कम् आदि हैं।

नव पाषाण काल –नव पाषाण काल को नव पाषाण क्रांति कहा गया है। पालिशदार कुल्हाड़ी इस काल का प्रमुख उपकरण था। विल डुरन्ट ने ठीक ही कहा है कि मानव इतिहास दो क्रांतियों पर आधारित है पहला जब नवपाषाण काल में मनुष्य का संचरण आखेट से कृषि पर हुआ तथा दूसरा आधुनिक काल में जब कृषि से उद्योग में संचरण हुआ। इस काल में मनुष्य ने कृषि कार्य आरम्भ कर दिया था तथा वह खाद्योत्पादक की भूमिका में आ गया था, वह मृदभाण्ड तथा गृह निर्माण की तकनीकों से भी परिचित हो गया था।

बुर्जहोम, गुफकराल, मार्तण्ड, किले गुल मोहम्मद, धलिगई, मेहरगढ़, सरायखोला, मिर्जापुर, कोल्डिहवा, महगड़ा, पंचोह, ध्विरान्द, मास्की, ब्रह्मगिरि, संगनकल्लू, हल्लूर, पीकंलीहल, पय्यमपल्ली आदि प्रमुख नवपाषाणिक स्थल है।

2.3 प्रागैतिहासिक धर्म

भारतीय प्रागैतिहासिक धर्म को लेकर भी विद्वानों में मतैक्यता नहीं है। उत्तर प्रदेश के प्रयागराज जनपद के बेलन नदी घाटी के लोहदानाला नामक पुरास्थल से पुरापाषाणकालीन एक हड्डी की वस्तु प्राप्त हुई है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि यह किसी मातृदेवी की मूर्ति है। मध्य प्रदेश के बाघोर नामक पुरास्थल से भी पुरापाषाणकालीन एक वेदिका प्राप्त हुई है। जिस पर त्रिभुजाकार एक आकृति के अवशेष भी मिले हैं। विद्वानों के अध्ययन में कोल तथा बैगा जनजातियों की उपासना प्राप्त अवशेषों के प्रकार की वृत्ताकर चबूतरे पर त्रिभुजाकार आकृति पर अद्यतन होती है जिसे वे मातृदेवी के रूप में पूजते हैं। ऐसा ही एक साक्ष्य भीमबेटका के समकक्ष गुफा से प्राप्त हुआ है जहाँ पर चट्टान का उपयोग घण्टा बजाने के लिये किया जाता था, विद्वानों की सम्भावना है कि

अवश्य ही इसका धार्मिक अथवा कर्मकाण्डीय पक्ष रहा होगा। भीमबेटका से अण्डे के खोल से निर्मित मनका भी प्राप्त होता है, सम्भव है कि इनका भी कोई धार्मिक महत्व रहा होगा। मध्यपाषाणकालीन पुरास्थलों से प्राप्त पुरावशेष लोकोत्तर भावना के विकास की ओर संकेत करते हैं। इस समय मृत्यु के बाद जीवन की कल्पना का विकास हो रहा था। इस समय मृतकों के कब्रों में सामग्रियाँ रखी जाने लगी तथा इनका दिशा विन्यास अधिकांशतः पूर्व–पश्चिम अथवा पश्चिम पूर्व है। इस काल में मनुष्य काल के माध्यम से शैल चित्रांकन कर अपनी अभिव्यक्ति करने लगे थे। इन शैल चित्रांकन के पीछे उद्देश्यों की कल्पना में एक कल्पना यह भी है कि इनका कोई कर्मकाण्डीय अथवा धार्मिक कारण रहा होगा। विद्वान मध्य प्रदेश के जवेरा गुफा से प्राप्त चित्रांकन को पृथ्वी आकाश तथा अग्नि सम्बन्धी अवधारणा के प्रारम्भिक अभिव्यक्ति से जोड़ रहें हैं। उत्तर–पश्चिम समेत अनेक नव पाषाणकालीन स्थलों से टेराकोटा से निर्मित मातृदेवी की मूर्तियाँ प्राप्त हुई है। शव के साथ परलोकवाद का विचार इस काल में और बढ़ गया था। कब्र, आवासीय क्षेत्र के भीतर भी बन रहे थे सम्भव है कि इसका सम्बन्ध भी कर्मकाण्ड से रहा होगा। शव निश्चित दिशा में तथा निश्चित विधि से दफनायें जाने आरम्भ हो गये थे। इसका आशय है कि मृतक संस्कारों की निश्चित परम्परा का विकास हो रहा था। मेहरगढ़ नामक पुरास्थल से प्राप्त शवों के अध्ययन से यह ज्ञात हुआ है कि उनको दफनानें से पूर्व लाल गेरूए रंग से रंगा जाता था। कश्मीर के बुर्जहोम नामक पुरास्थल पर मानव एवं कुत्ते को एक साथ दफनाए जाने का प्रमाण मिलता है।

2.4 सारांश

प्रागैतिहासिक धर्म के बारे में अद्यतन प्रमाणिक रूप से सर्वसहमति से कुछ भी कहा जाना शेष है। पुरास्थलों से प्राप्त वस्तुओं को धार्मिक तत्व स्वीकार तथा अस्वीकारने दोनों ही पक्षों में भिन्न–भिन्न विद्वानों का मत है। फिर भी ऐसे तत्व दृष्टिगोचर होते हैं, जो कालानुसार धार्मिक विकास को इंगित करते हैं इसमें कला एवं शवाधान पद्धति का उदाहरण प्रमुख है।

2.5 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

- भट्टाचार्य डी. के.– प्री हिस्टोरिक आर्कियोलॉजी, हिन्दुस्तान पब्लिशिंग कारपोरेशन, नई दिल्ली, 1990।
- पाण्डेय, जे0एन0– पुरातत्त्व विमर्श
- शर्मा, जी0आर0, वी.डी. मिश्रा, डी मण्डल, बी.बी. मिश्रा, जे. एन0 पाल–from hunting and food gathering to domastication of plants and Animals : Begining of Agricultural (Epl Paleolithic to Neo lithic : Excavation of copani mando Mahadoha and Magagarah) Allahabad
- भट्टाचार्य, डी0के0–एन आउटलाइन ऑफ इण्डियन प्री हिस्ट्री, सिंह उपन्दिर, प्राचीन एवं पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास

2.6 निबन्धात्मक प्रश्न

(1) प्रागैतिहासिक धर्म पर टिप्पणी कीजिए

(2) प्रागैतिहासिक संस्कृति के विभिन्न पक्षों पर टिप्पणी कीजिए।

इकाई– 3 वैदिक धर्म और दर्शन, प्रकृति एवं महत्व

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 वैदिक धर्म का स्वरूप
3.4 वैदिक दर्शन
3.5 वैदिक धर्म एवं दर्शन की प्रकृति एवं महत्व
3.6 सारांश
3.7 सन्दर्भ ग्रंथ सूची एवं सहयोगी पाठ्य पुस्तकें
3.8 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

वैदिक आर्य देवताओं को मानने वाले तथा यज्ञ करने वाले थे। ऋग्वैदिक काल से उत्तरवैदिक काल में इस प्रवृत्ति में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई। उत्तरवैदिक काल में कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड तथा लोकधर्म की प्रवृत्तियो का विकास हुआ। कर्मकाण्ड का सम्बन्ध यज्ञीय विधि विधानो से है ज्ञानकाण्ड का आशय ब्रह्मचिन्तन है तथा लोकधर्म का आशय लोक में व्याप्त वैदिक एवं गैरवैदिक परम्पराओ से है। आर्यो ने स्वंय को जिन प्राकृतिक शक्ति से प्रभावित महसूस किया उन्हें उपास्य देव के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया परन्तु वैदिक धर्म में बहुदेववाद के साथ–साथ एकेश्वरवाद की मान्यता थी दृष्टि गोचर होती है।

3.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात आप

- वैदिक धर्म के स्वरूप से परिचित हो सकेंगे।
- वैदिक दर्शन के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे।
- वैदिक धर्म एवं दर्शन की प्रकृति को जान सकेंगें।
- वैदिक धर्म एवं दर्शन के महत्व को जान सकेंगें।

3.3 वैदिक धर्म का स्वरूप

वैदिक काल का विभाजन दो शाखाओं में किया गया है ऋग्वैदिक काल एवं उत्तर वैदिक काल। ऋग्वैदिक धर्म एवं उत्तर वैदिक धर्म में परिवर्तन तथा निरन्तरता दोनो ही दृष्टिगोचर होती है। ऋग्वेद में धर्म शब्द का प्रयोग कही–कही संज्ञा के रूप में तो कही विशेषण के रूप में किया गया है। भारतरत्न डा० पी०वी० काणे महोदय की मान्यता है कि ऋग्वेद में उल्लिखित धर्म का आशय एक निश्चित व्यवस्था, सिद्धान्त, नियम तथा आचरणगत व्यवहार से है।

ऋग्वेद में वर्णित देवताओ की संख्या से प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक जन बहुदेवोशासक थे। इन देवताओ में कुछ देवता पृथ्वी के देवता थे, कुछ अंतरिक्ष के देवता थे तथा कुछ घु–स्थान के देवता थे। ऋग्वेद में कही–कही इनकी संख्या तैतीस बताई गयी है। ऋग्वेदोन्तर काल में वैदिक देवमण्डल में परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। इस कालावधि में पुरूष देवताओ के साथ–साथ स्त्री देवताओ की उपासना का प्रारम्भ हुआ।

ऋग्वेद में देवताओ के तीन विदध का वर्णन प्राप्त होता है। यास्क ने अपनी कृति निरूक्त में ऋग्वैदिक देवमण्डल को तीन विभागो में विभक्त किया है।

- पृथ्वी–स्थानीय
- अंतरिक्ष–स्थानीय
- धु–स्थानीय

धौ, सूर्य, वरूण, मित्र, पूषन, विष्णु, उषा, अश्विन, सविता, भदिति भाडि देवताओ को आकाश का देवता माना गया है। इन्द्र मरूत, रूद्र वायु, पर्जन्य, आप आदि देवता को अंतरिक्ष का देवता कहा गया है एवं अग्नि,सोम,पृथ्वी,बृहस्पति,सरस्वती तथा अरण्यानी को पृथ्वी का देवता कहा गया है। इस देवमण्डल में अधिकांश

देवता है तथा ऊषा, पृथ्वी, अदिति, रात्रि, अरण्यानी, पिशान इला, पुरमधि आदि देवियॉ थी। इस काल में देवताओ की तुलना में देवियो को प्रमुख स्थान नही प्राप्त था। देवमण्डल के सर्वाधिक प्रमुख देवता इन्द्र थे जिन पर 250 सुक्त है। इन्द्र को पुरन्दर वृन्तासुर हन्ता पुराभिद सोमापा शतक्रति तथा माधवान आदि अनेक उपाधियो से प्रतिष्ठित किया गया है। इन्द्र के बाद इस देवमण्डल में अग्नि का स्थान आता है। अग्नि पर 200 सूक्तो का वर्णन है। अग्नि के माध्यम से हविष देवताओ को प्राप्त होता था। इन्द्र के पश्चात इस देवमण्डल में वरूण का स्थान था जो ऋत के संरक्षक थे। इन्हें त्रध्तस्य गोपा कहा गया है। त्रध्तानुसार आचरण न करने वाले को वरूण दण्ड प्रदान करते थे इन्हें जल तथा समुद्र के देवता के रूप में भी प्रतिष्ठित किया गया है। सोम को वनस्पतियो का देवता माना गया है। मरूत को ऑधी का देवता कहा गया है। अश्विन, चिकित्सा के देवता माने गये है। इनकी प्रतिष्ठा सूर्योदय के पूर्व तथा पश्चात के तारे के रूप में है। आर्यो के सार्वाधिक प्राचीन देवता घौ है इनका प्रतीक वृषभ है जिसके रूप में ये प्रदर्शित किये जाते है। सूर्य को सर्वव्यापी तथा सर्वज्ञ कहा गया है यह विश्व की रक्षा करते है। उगते हुए सूर्य के रूप में मित्र दवे की प्रतिष्ठा है। पूषन को वनस्पतियो तथा औषधियो का देवता कहा गया है। विष्णु का वर्णन ऋग्वेद में सूर्य के सहायक एवं इन्द्र के मित्र के रूप में है इन्होने अपने पदो से ब्रह्माण्ड को मापा था तथा आकाश को स्थिर किया सूर्य के उदय के पूर्व के काल के रूप में देवी ऊषा की प्रतिष्ठा है तथा सूर्य जब प्रकाशमान हो जाता है उस अवस्था के रूप में देवी सविता की प्रतिष्ठा है जिनको गायत्री मंत्र समर्पित किया गया है। प्रकृति की देवी के रूप में अदिति की प्रतिष्ठा है। रूद्र का वर्णन ऋग्वेद के तीन सूक्तो में प्राप्त होता है। इन स्वरूप रौद्र है तथा यह शिव के रूप माने जाते है। पर्जन्य वर्षा एवं नदी के देवता, आप सृजन के देवता बृहस्पति यज्ञ के देवता के रूप में प्रतिष्ठित है। सरस्वती की उपासना ज्ञान के देवी के रूप में वर्णित है। अरण्यानी की उपासना वनदेवी के रूप में इला की उपासना आहुति की देवी के रूप में पिसान की उपासना वनस्पति की देवी के रूप में वर्णित है। परमात्मा की पहली कृति के रूप में हिरण्यगर्भ की प्रतिष्ठा है जो जगत के कर्ता–धर्ता है। ऋग्वैदिकोत्तर काल में देवमण्डल में परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। उत्तरवैदिक कालीन देवमण्डल में स्त्रीदेवताओ की महत्ता थी पुरूष देवताओ के समान स्थापित हो चुकी थी। ब्राहाण ग्रंथो में शची यथी नित्रधति मीधूषी, रूद्राणी, अम्बिका, श्री, वाक्, लक्ष्मी आदि देवीयो की स्तुतियो का उल्लेख प्राप्त होता है। उत्तर वैदिक काल आते–आते देवताओ की प्रमुखता में परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। उत्तरवैदिक काल में पितर पूजा की मान्यता अधिक बढ़ गयी थी। इस काल में इन्द्र का स्थान प्रजापति ने ले लिया तथा शिव एवं विष्णु का महत्व अत्यन्त बढ़ गया। अथर्ववेद में लोक धर्म जिसमें स्वास्थ्य की रक्षा, रोग प्रतिकार, पशु की रक्षा, क्षेत्र की रक्षा संतान एवं घर प्राप्ति शत्रु पर विजय मारण मोहन तथा उच्चारन आदि का वर्णन प्राप्त होता है जिसकी व्याप्ति सामान्य वर्गो में थी।

3.4 वैदिक दर्शन

वैदिक ग्रंथो में अनेक स्थानो पर दर्शनिक सिद्धान्त दृष्टिगोचर होते है। यद्यपि वैदिक ग्रंथ मुख्यतः देवताओ के लिये की स्तुतियो का संग्रह है तथापि इसमें दार्शनिक भावो से परिपूर्ण अनेक सूक्त प्राप्त होते है। वैदिक ग्रंथो में मुख्यतः तीन प्रकार के दार्शनिक विचार दृष्टिगोचर होते है–एकेश्वरवाद, बहुदेववाद तथा अद्धैतवाद।

वैदिक काल के मनुष्य ने सर्वप्रथम प्राकृतिक चेतना को महसूस किया तथा पाया कि वह पूर्ण रूप से प्रकृति के अधीन है। इसी क्रम में वैदिक मनुष्यो में अनेक प्राकृतिक शक्तियो की कल्पना की तथा उनपर मानवीय गुणो को आरोपित कर दिया परन्तु उनकी स्थापना मानवीय रूप में न कर देव स्वरूप में की जिनकी कभी मृत्यु

नही होती। ऋग्वैदिक कालीन मनुष्यो ने अपनी देवता की प्रसन्नता के लिये सूक्तो की रचना की उन्हें ख्याति प्रदान किया तथा यज्ञो के माध्यम से आहुतियॉ दी।

ऋग्वेद में देवताओ के लिये असुर शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका आशय है प्राण वाला। ऋग्वेद में अनेक देवताओ की कल्पना की गयी है परन्तु यास्क ने उनके निवास स्थान के आधार पर वर्गीकृत कर ग्यारह ग्यारह की संख्या में विभाजित किया है। ये सभी देवता प्रकृति से जुड़ी हुई शक्तियॉ है इसलिये यह बहुदेववाद प्राकृतिक बहुदेववाद के रूप में जाना जाता है।

मैक्समूलर ने एकेश्वरवाद की अवधारणा से पूर्व एक नयी अवधारणा की परिकल्पना की जिसे एकेष्टश्वरवाद कहा। इनके अनुसार वैदिक त्रधि उपासना के समय उस उपास्य देवता की महन्ता में अत्यन्त वृद्धि कर देते थे तथा अन्य देवताओ की उपेक्षा करते थे परन्तु मैक्डानल्ड एवं ब्लूफील्ड प्रभृति विद्धानो ने इस मत का खण्डन करते हुए इसे भ्रांति बताया है।

ब्हुदेववाद के पश्चात् वैदिक ऋषियो में एकेश्वरवाद की भावना का विकास हुआ। वैदिक ऋषि एक स्थान पर कहते है कि एक सत् विप्रा बहुधा वदन्ति। अग्नि यमं मातश्विा नामाहु। अर्थात सत्य केवल एक है जिसे विप्रजन अग्नि, यम, मातराश्विन् आदि अनेक नामो से पुकारते है। इस प्रकार ऋषियो ने सभी के पीछे कार्य करने वाली एक समान शक्ति सत् की परिकल्पना की जो विश्वदेवा सूक्त में भी दृष्टिगोचर होती है जहॉ समस्त देवताओ को विश्वेदेवा कहा गया है त्रहत की अवधारणा द्वारार वरूण द्वारा नियमित चराचर की संकल्पना से वैदिक वैधषियो मे एकेश्वरवाद की अवधारणा को बल मिला तथा विश्वकर्मा एवं प्रजापति की अवधारणा से वैदिक त्रधपि एकेश्वरवाद यह पहॅुच गये।

एकेश्वरवाद के पश्चात् भी द्वैतवाद बना रहा ईश्वर एवं प्रकृति दो अलग–अलग सत्ता के रूप में स्वीकृत थे। परवर्ती वैदिक ग्रंथो में दिखने वाली अद्वैतवाद के वृक्ष की जड़े ऋग्वेद में ही दिखती है। ऋग्वेद के पुरूष सूक्त में अद्वैतवाद का दर्शन होता है तथा अथर्ववेद के उच्छिष्ट सूक्त एवं सकम्भ सूक्त में अद्वैतवाद की अवधारणा और अधिक स्पष्ट होती हुई दिखती है। वैदिक ऋषियो ने सम्पूर्ण जगत को एक कार्य मानकर उसके कारण के संकल्पना के क्रम में अद्वैतवाद के निकट पहॅुचे। नासदीय सूक्त में वर्णित विश्व कारण में समन्वित होने का सिद्वान्त अद्वैतवाद की एक सशक्त पृष्ठभूमि है।

वैदिक दर्शन में व्रहत का भी एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। त्रध्त एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अनुसार सभी आचरण करते है तथा त्रध्त विरूद्ध आचरण करने पर दण्डित किये जाते है। देवता भी इससे अछूते नही। संसार में जो कुछ है वह त्रध्त की व्यवस्था से है। इसी व्यवस्था से पृथ्वी एवं अंतरिक्ष है। त्रध्त एक नैतिक व्यवस्था है जिसके रक्षक वरूण है जो समस्त विश्व में त्रध्त विरूद्ध आचरण करने वाले को दण्डित करते है परन्तु वह भी त्रध्त के नियमो के विरूद्ध नही जा सकते। ऋग्वेद में त्रध्त के रक्षक के रूप में वरूण का भी वर्णन प्राप्त होता है। त्रध्त के रक्षक कालान्तर में परिवर्तित होते रहे वरूण के पश्चात यह स्थान इन्द्र को प्राप्त हुआ तथा इन्द्र के पश्चात इस कार्य की जिम्मेदारी प्रजापति को मिली। त्रध्त की अवधारणा ने ही कर्मवाद के सिद्धान्त के जन्म की आधारशिला रखी।

3.5 वैदिक धर्म एवं दर्शन की प्रकृति एंव महत्व

ऋग्वैदिक मनुष्यो के उपासना का प्रमुख ध्येय भौतिक सुखो की प्राप्ति थी, वे पुत्र, पशु, अनाज एवं स्वास्थ्य कामना से उपासना करते थे। उनकी उपासना के लौकिक कारण थे तथा इस उपासना का माध्यम यज्ञ में बलि प्रदान करना तथा स्तुति के द्वारा देवतओ को प्रसन्न करना था। पशुओ को वाले प्रदान करने से पहले उन्हें सूत्र में बांध दिया जाता था तथा यज्ञ की अग्नि मे आहुति स्वरूप खाद्यान्न तथा शाकादि डाले जाते थे। उत्तर वैदिक काल में यज्ञ की महत्ता में अत्याधिक वृद्धि हुई तथा यज्ञ के अवसर पर पशुबलि की प्रथा को बढ़ावा मिला। यज्ञ में पुरोहितो को वस्त्र आभूषण पशुधन आदि प्रदान किये जाने लगे। यज्ञ प्रमुख रूप से तीन प्रकार के होते थे दैनिक यज्ञ, विशेष पर्व तथा त्यौहारो परा किये जाने वाले यज्ञ तथा महायज्ञ। दैनिक यज्ञ में पंचमहायज्ञ संस्कार आदि थे। दर्शयज्ञ, अग्निहोत यज्ञ, सैव्रामणि यज्ञ, पूर्णमास यज्ञ आदि विशेष व्रत, पर्व तथा त्यौहारो परा किये जाते थे। महायज्ञ में राजसूय यज्ञ, सोमयज्ञ, अश्वमेद्य यज्ञ, बाजपेय यज्ञ आदि थे जिसमें अपार धन व्यय होता था तथा यह अधिक दिनो तक चलता था।

उत्तर वैदिक काल में यज्ञो के सम्पादन के लिये पुरोहित ब्राहाण की आवश्यकता ने वैदिक पुरोहितो के अध्यक्षता में सहायक ब्राहाणो के वर्ग को तैयार किया। ऋग्वेद के पुरोहित होते थे तथा मंत्रावरण अच्छावाक एवं ग्रावस्तुत को इनका सहायक कहा जाता है। सामवेद के पुरोहित उदगाता कहे जाते थे तथा इनके सहायको को प्रति होता, प्रस्तोता एवं सुब्रमण्यम कहा जाता था। यजुर्वेद के पुरोहित अध्वर्यु कहे जाते थे तथा इनके सहायक को प्रतिष्ठा उन्नोता एवं नेष्ठा कहे जाते थे। अथर्ववेद के पुरोहित का ब्रव्जा कहा जाता था तथा इनके सहायक ब्रहणार्च्ईसी, अगतीध एवं पोता होते थे।

उत्तर वैदिक काल में यज्ञ लौकिक तथा पादलौकिक दोनो ही कामनाओ से सम्पादित कराये जाने लगे थे। लम्बे भौतिक सम्पन्नता तथा मोक्ष की प्राप्ति के लिये यज्ञ कराये जाते थे परन्तु पुरोहितो के पहले प्रभुत्व ने एक नये अवधारणा को जन्म दिया यह था ज्ञान मार्ग। ज्ञान मार्ग उपनिषेदिक चिन्तन है जिसके अनुसार यज्ञ आदि माध्यम से जीवन के भवसागर को पार नही किया जा सकता इस चिन्तन ब्रध्त तथा आत्मा के मध्य अद्वैत स्थापित करने का प्रयास किया। इस चिन्तन ने समाज में नारियो को भी प्रमुख स्थान प्रदान किया।

3.6 सारांश

ऋग्वैदिक आर्य प्राकृतिक शक्तियो के उपासक थे। इन्होने प्रकृति के उन सभी तत्वो पर जिनका जीवन पर प्रत्यक्ष प्रभाव है पर दैवीयता का आरोपण कर दिया तथा उनमें मानवीय गुणो को भी देखा। इस प्रकार ऋग्वैदिक दैव तथा आर्य में मुख्य अन्तर मर्त्य तथा अमर्त्य का था। ऋग्वैदिक आर्य बहुदेव के उपासक थे जो पृथ्वी, आकाश तथा अन्तरिक्ष में निवास करते थे। अपने उपास्थ की प्रसन्नता के लिये थे यज्ञ तथा स्तुति किया करते थे। कालान्तर में बहुदेववाद की अवधारणा एकेश्वरवाद की ओर बढ़ने लगी तथा वैदिक देवमण्डल में प्रमुख देवताओ का स्थान दूसरे देवताओ ने से लिया। उत्तर वैदिक काल आते–आते वैदिक ब्रधषियो में पुनर्जन्म एवं पारलौकिक जीवन की कल्पना का विकास हो गया था जिससे यज्ञ के उद्देश्य में परिवर्तन आ गया। इस काल यज्ञ तथा यज्ञ को सम्पादित कराने वाले पुरोहितो की महत्ता में वृद्धि हुई जो उत्तर वैदिक काल के अन्त तक बौद्धिक चिन्तको के विरोध का कारण बनी और यह विरोध उपनिषद के चिन्तन के रूप में विकसित हुआ।

3.7 सन्दर्भ ग्रंथ सूची एवं सहयोगी पाठ्य–पुस्तकें

- ऋग्वेद
- यजुर्वेद
- सामवेद
- अथर्ववेद
- दूबे, एच०एन० भारतीय संस्कृति शारदा पुस्तक भवन इलाहाबाद 2018–19
- कौशाम्बी, डी० डी० मिथ एण्ड रियालिटी
- अल्तेकर, अनन्त सदाशिव– एजुकेशन इन एंसिएन्ट इण्डिया
- थापर, रोमिला, भारत का इतिहास राजकमल प्रकाशन द्वादश संस्करण 1990
- दूबे, एच०एन० भारत की प्रारम्भिक संस्कृतियॉ एवं सभ्यताऍ
- पाण्डे एस० के प्राचीन भारत इलाहाबाद–2014

3.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1. वैदिक धर्म के स्वरूप पर प्रकाश डालिए।
2. वैदकि दर्शन पर टिप्पणी कीजिए।
3. उपनिषदिक चिन्तन ने वैदिक धर्म को किस प्रकार किया, वर्णन कीजिए।
4. वैदिक धर्म एवं दर्शन के महत्व पर टिप्पणी कीजिए।

इकाई– 4 वैदिक देवी और देवता : मिथक और अनुष्ठान

इकाई की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना

4.2 उद्देश्य

4.3 वैदिक देवता और इनसे संबन्धित मिथक और अनुष्ठान

4.4वैदिक देवताओं के प्रकार

4.4.1 द्युस्थानीय देवता

4.4.1.1 वरुण

4.4.1.1.1 वरुण से संबन्धित मिथक और अनुष्ठान

4.4.1.1.2 वरुण का नैतिक पक्ष

4.4.1.1.3 व्यक्तित्व का ह्रास

4.4.1.2 सूर्य

4.4.1.2.1 सूर्य से संबन्धित मिथक और अनुष्ठान

4.4.1.3 सवितृ तथा इनसे संबन्धित मिथक और अनुष्ठान

4.4.1.4 पूषन

4.4.1.4.1 पूषन से संबंधित मिथक और अनुष्ठान

4.4.1.5 विष्णु

4.4.1.5.1 विष्णु से सम्बन्धित मिथक और अनुष्ठान

4.4.1.6 घुस्थानीय अन्य देवता

4.4.2 अंतरिक्ष स्थानीय देवता

4.4.2.1 इंद्र

4.4.2.1.1 इंद्र से संबन्धित मिथक और अनुष्ठान

4.4.2.2 अंतरिक्ष के अन्य देवता

4.4.2.3 रुद्र तथा रुद्र से संबन्धित मिथक और अनुष्ठान

4.4.3 भूस्थान देवता

4.4.3.1 अग्नि तथा उनसे संबन्धित मिथक और अनुष्ठान

4.4.3.2 सोम से संबन्धित मिथक और अनुष

4.5 वैदिक देवियां तथा इनसे सम्बंधित मिथ्य

4.5.1 पृथ्वी

4.5.2 उषा

4.5.3 अदिति

4.5.4 दिति

4.5.5 रात्रि

4.5.6 राका और अनुमति

4.5.7 कुहू सिनीवाली

4.5.8 वाक्

4.5.9 देव पत्नियां

4.6 सारांश

4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

4.8 सहायक उपयोगी पाठ्य पुस्तकें

4.9 निबंधात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

वैदिक धर्म और देवमंडल के विषय में जानकारी का एक प्रमुख स्रोता वैदिक साहित्य है जिसमें वेद, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद आदि प्रमुख हैं। प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद से हमें बहुदेववाद का वर्णन प्राप्त होता हैं। आर्य विभिन्न देवता के पूजा अर्चना में विश्वास रखते थे। अधिकांश देवता प्रकृति की विविध शक्तियों के प्रतीक हैं जिनका मानवीकरण किया गया हैं तथा इनका यह विश्वास था कि देवता की कृपा से ही संसार का संचालन सम्भव है। प्रत्येक देवता को संसार के स्रष्टा और नियंत्रणकर्ता के रूप में प्रदर्शित किया गया है।

आर्य प्रकृति की विभिन्न शक्तियों को देवता मानकर उनकी उपासना करते थे। आर्यों के देवमंडल में परमपुरुष से लेकर प्रकृति की विभिन्न शक्तियां निहित हैं तथा आर्यों की सर्वोच्च शक्ति परमपुरुष के रूप में स्थापित हुई है। प्रकृति के इन शक्ति के स्वरूपों में इंद्र, वरुण, सूर्य, चंद्र, वायु, पर्जन्य, उषा आदि देवता और देवी बन गए। प्राकृतिक शक्तियों को आर्य दो रूपों में देखते थे जिनमें से एक रूप कोमलता और दया का तथा दूसरा रुप क्रूरता और संहार का था ।

4.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप–

- वैदिक काल में प्रमुख देवी–देवताओं को जान सकेंगे।
- इस अध्याय से हम वैदिक काल के देवी और देवताओं का एक तुलनात्मक अध्ययन कर सकेंगे।
- वैदिक काल में देवताओं के लिए वर्णित मिथकों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- वैदिक काल में विभिन्न देवी और देवताओं के लिए प्रचलित अनुष्ठानों का अध्ययन कर सकेंगे।

4.3 वैदिक देवता तथा इनसे सम्बंधित मिथक और अनुष्ठान :–

ऋग्वेद में सभी देवताओं को जगत के रचनाकर और नियंत्रणकर्ता के रूप में प्रकट किया गया है तथा अन्य देवताओं की उत्पत्ति इन्ही देवताओं स्वीकर की गई है। यास्क के अनुसार सृष्टि के मूल में कार्यरत शक्ति परमात्मा हैं, सभी देवता उस एक परमात्मा के प्रत्यंग हैं और उसी परमात्मा का पूजन विभिन्न रूपों या प्रकार में होता हैं अतः वह आत्मा ब्रह्म की सत्ता है जो सर्वव्याप्त है।

4.4 वैदिक देवताओं के प्रकार :–

यास्क द्वारा वैदिक देवताओं को तीन खंडों में वर्गीकृत किया गया हैं।

1. घुस्थानीय देवता।
2. अंतरीक्ष के देवता।
3. पृथ्वी के देवता

घुस्थानिय देवताओं में वरुण, पूषन, मित्र, सूर्य, विष्णु, अश्विन, उषा आदि हैं। अंतरिक्षीय देवताओं में इन्द्र, अपरम, पर्जन्य, आपरू, रुद्र, मस्त प्रमुख हैं। पृथिवीस्थानीय देवताओं में अग्नि, वृहस्पति, सोम, आदि प्रमुख देवता हैं।

ऋग्वेद में अधिकांशतः पुरुष देवताओं का वर्णन प्राप्त होता हैं तथा देवियों का स्थान गौण है। कुछ अमृत भावनाओं से युक्त देवी देवताओं का वर्णन भी प्राप्त होता है जिनमें श्रद्धा, मन्यु, धातृ, प्राणकाल आदि। वैदिक देवताओं की उपासना यज्ञों द्वारा की जाती थी तथा ये सदाचार और नैतिक मूल्यों की रक्षा करने वाले थे। इन देवताओं का सम्बंध 'ऋत' से स्थापित किया गया हैं जिसका अर्थ है सत्य तथा अविनाशी सत्ता । ऋत विश्व की व्यवस्था का नियामक हैं। ष्ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसओध्यजायत ।ष देवता ऋत के स्वरुप है तथा ये अपनी दैविक शक्तियों द्वारा ऋत की रक्षा करते हैं।

वैदिक ऋषियों ने वैदिक देवताओं की कल्पना मनुष्यों के रूप में की हैं तथा इन देवताओं में सभी मानवीय गुण समाहित थे। देवता और मनुष्यों में यह अन्तर हैं कि देवता अमर तथा सर्वव्यापी हैं तथा इनमें कोई भी दुर्बलता व्याप्त नहीं हैं। ये देवता अपार शक्ति तथा नैतिकतासे हैं जबकि मनुष्य मत्र्य और सीमित साधनों वाला हैं। मनुष्य देवताओं की प्राप्ति युक्त कृपा का अभिलाषी होता हैं जिसके द्वारा ही मनुष्य का उत्थान संभव माना गया हैं। देवताओं के कोप से इन मनुष्यों का नाश भी हो सकता हैं, अतः मनुष्य इन देवताओं को प्रसन्न करने के लिए प्रयत्नरत रहता हैं। परन्तु वैदिक धर्म में जिस भी देवता की स्तुति की गई हैं उसे ही सर्वश्रेष्ठ मान लिया गया है।

वैदिक धर्म बहुदेववादी था। लेकिन बाद में ऋषियों ने एक परम तत्व की कल्पना की जिसमें सभी देवता समाहित थे। यह वैदिक धर्म के एकेश्वरवादी स्वरुप का द्योतक हैं।

4.4.1 धु–स्थानीय देवता

घुस्थानीय देवताओं में वरुण, पूषन, मित्र, सूर्य, विष्णु, अश्विन, उषा, द्यौः आदि हैं। द्यौस शब्द दिव् धातु से उत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ भास्कर या प्रकाशमान 'देव' से स्थापित किया गया हैं। इसका उल्लेख पृथ्वी के साथ ''द्यावापृथिव्यौ'' के रूप में हुआ है जो विश्व के माता पिता माने गए हैं। इन्हें प्रायः किसी अन्य देवता के साथ संबद्ध किया गया हैं जो इनका पुत्र या पुत्री कहा जाता हैं जैसे द्यौस पुत्री उषा, यौस पुत्र अश्विन आदि । ऋग्वेद में इनके मानवीकरण का प्रमुख आधार ही इनका पितृत्व गुण हैं। कुछ मंत्रो में इन्हें वृषभ के रूप में भी प्रदर्शित किया गया हैं, जो पृथ्वी को उर्वर बनाता हैं। आर्यों के यूनानी शाखा के लोग इसे ज्यौसा या जीयत देवता के रूप में सम्बोधित करते थे।

4.4.1.1 वरुण :–

द्युस्थानीय देवताओं में वरूण दूसरे प्रमुख देवता है। इनकी समानता यूननी देवता उरमस से की जाती है। वरुण का उल्लेख जगत के नियंता और ऋत के अधिपति के रूप में किया गया हैं। यह आकाश, पृथ्वी और सूर्य के नियामक थे। वायु इनका श्वास तथा ऋतुएं इनसे नियमित थीं। माया रूप में वरुण सर्वत्र विद्यमान रहते थे इसीलिए इसे 'विश्वतश्चक्षुः', सुक्रतु, धृत व्रत और सम्राट भी कहा गया हैं तथा इन्हें पक्षियों और नावों के मार्ग को जानने वाला सर्वज्ञ कहा गया हैं। यह स्पर्शो से सदैव घिरे रहते थे, जो इन्हें जीवों के ह्रदय में सोचे गए कार्यों की सूचना देते थे। इसीलिए इन्हें समस्त प्राणियों के शुभ अशुभ सभी कर्मों के ज्ञाता और इच्छापूर्ति करने वाला कहा गया हैं। पुराणों में इनकी प्रतिष्ठा जल के देवता के रूप में है।

4.4.1.1 वरुण से संबन्धित मिथक और अनुष्ठान :–

वैदिक काल के साहित्यों में वरूण से संबन्धित कई मिथको का भी वर्णन किया गया हैं तथा इनसे सम्बंधित कई अनुष्ठान भी जानकारी वैदिक ग्रंथों से प्राप्त होती हैं। ऋग्वेद में इनका स्मरण कर कहा गया हैं कि हमारे पितरों को पाप से मुक्त करो तथा हमें पाप से बचाओ।" ऋग्वेद में वरुण का स्थान इन्द्र के बाद बताया गया हैं जिन्हें ऋतस्थ गोपाः एवं भुवनस्य गोपाःके रूप में भी जाना जाता था। वरुण का व्यक्तित्व उनके नैतिक उपलब्धियों पर अधिक निर्भर करता हैं। इनके शारीरिक अंगों में मुख, आंख, भुजाएं, हाथ, पैर का उल्लेख किया गया हैं। सूर्य वरुण के नेत्र हैं। बहुत डूी तक देखने वाले, हजारों नेत्र वाले मानव मात्र का सर्वेक्षण करने वाले वरुण सूर्य के द्वारा ही सब कुछ देख लेते हैं। सूर्य रश्मियों से वरुण मानों अपने हाथ से रथ चलाते हैं। वरुण का आसन यज्ञ के समय बिछाया गया कुशासन हैं, जिस पर मित्र के साथ विराजते हैं।तथा अन्य देवताओं की साथ सोमपान भी करते हैं। शतपथ ब्राह्मण में वरुण का वर्णन पीली आंखों वाले केशविहीन, सुंदर वृद्ध के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

वरुण का स्वर्ग में स्वर्णिम निवास स्थल है जो हजारों स्तम्भों एवं द्वारों से युक्त हैं। यहाँ से वरुण विश्व के अनन्य व्यापार को देखते रहते हैं। सूर्य तथा मित्र वरुण के सदन पर मनुष्यों के क्रिया कलापों की सूचना देन जाते हैं।

वरुण सम्पूर्ण संसार विश्व के देव, असुरों, सर्व भुवानों के स्वामी कहें गए हैं। इनको स्वराज की उपाधि से विभूषित किया गया है। वरुण को 'मायिन' भी कहा गया हैं जिसके द्वारा वरुण वायु में सूर्य के मान की सहायता से पृथ्वी को मापते हैं।

वरुण को सम्पूर्ण भुवन के रक्षक एवं सम्पूर्ण विश्व का देवता कहा गया हैं। ये ऋत् के माध्यम से सम्पूर्ण विश्व पर शासन करते हैं।

"ऋतेन विश्वं भुवनों वि राज्यः।"

पृथ्वी एवं धावा की भिन्न–भिन्न स्थिति वरुण के व्रत से हुआ है। वरुण ने ही अग्नि को जल में, सूर्य को आकाश में तथा सोम को पर्वतों पर उगाया है तथा सूर्य के विस्तृत पथ का निर्माण राजा वरुण द्वारा ही किया

गया हैं। वरुण एवं मित्र का ऋत ब्रह्माण्ड की भी घटनाओं पर लागू होता है। इस नियमसे सूर्य अपने अश्वों को रथ से खोलते हैं। वायुमंडल में गतिशील वायु व रात्रि में उदय होने वाला प्रकाशमान चन्द्रमा वरुण द्वारा ही नियमित होते है। रात दिन का नियमन एवं विभाजन भी वरुण ही करते हैं। परवर्ती वैदिक साहित्य में वरुण का सम्बन्धि रात्रि से तथा मित्र का सम्बन्ध दिन से स्थापित किया गया हैं। तैत्तिरीय संहिता में स्पष्ट वर्णन हैं कि वरुण ने रात्रि बनाया तथा मित्र ने दिन का निर्माण किया हैं।

वरुण का सम्बंध ऋग्वेद में जल से भी स्थापित किया गया हैं। नदियों के प्रवाह के कारण के रूप में भी वरुण की प्रतिष्ठा है। ऋग्वैदिक काल में सप्त सरिताओं, अंतरिक्ष में मेघ में स्थित जल, ओस, वर्शा आदि सभी के कारणों के रूप में वरुण उपास्य देव थे। यास्क कृत निरुक्त में वरूण को अंतरिक्ष तथा घु दोनों ताकों से सम्बन्धित किया गया है परन्तु परवर्ती वैदिक काल में वरुण का सम्बन्ध मात्र जल तक रह गया।

यजुर्वेद में वरूण को जल का शिशु कहा गया हैं तथा जल उनके मातृत्म हैं। तैत्तिरीय संहिता में जल को वरुण की पत्नी कहा गया हैं।

4.4.1.1.2 वरुण का नैतिक पक्ष :—

वरूण का महत्व उनके भौतिक शक्तियों की तुलना में नैतिक विधानों में अधिक निहित दिखाईं देता है। इन नैतिक विधानों का ऋग्वेद में व्रत तथा ऋत कहा गया है। वरुण को ऋतस्य गोपा कहा गया है। इनमें 'ऋतवान' या ऋतावन् को उपाधियों से भी विभूषित किया गया है। वरूण तथा समस्त देवता.तानुसार आचरण करते हैं।

वरुण को ऋत के नियम के अंतर्गत ब्रह्माण्ड की समस्त घटनाएँ आती है। वरूण आकाश, पृथ्वी, जल, वायु में होने वाली प्रत्येक घटनाओं से परिचित हैं। अतीत, वर्तमान तथा भविष्य में होने वाली कोई भी घटना वरुण की दृष्टि से बच नहीं सकती। वरूण सर्वज्ञ तथा सर्वव्यापी है।

वरुण की इस सर्वज्ञता के कारण पाप और पापियों का इनसे बचकर निकल पाना सम्भव नहीं हैं। लोगों के ऋत्भंग करने से इनमें क्रोधित होकर कठोर दण्ड देते हैं। पापियों को दण्डित करने के लिए वरुण इन्हें पाशों से बांधते हैं। परन्तु सत्यभाषीजन वरूण के दण्ड से मुक्त रहते हैं। वरुण द्वारा वही दण्डित होते हैं जो उपासना में प्रमाद में रहते हैं तथा असत्यभाषी होते हैं एवं वह इसका प्रायश्चित नहीं करते हैं। प्रायश्चित करने वाला मनुष्य भी धीरे—धीरे वरुण के दण्डपाश से मुक्त हो जाता है।

वरुण के ऋत् एवं व्रत को भंग करने वाले प्राणी पाण्डु रोग या जलोदर से भी पीड़ित होते हैं। ऋग्वेद में वर्णन मिलता है कि वरुण के पास सैकड़ों, हजारों, औषधियां हैं जिनसे वे अपने उपासको का पाप नष्ट करते हैं तथा मृत्यु को भी दूर भगा देते हैं। इन औषधियों के द्वारा वरुण जीवन का अंत करने का तथा जीवन में वृद्धि करने का सामर्थ्य रखते हैं।

4.4.1.1.3 व्यक्तित्व का हास :–

वरुण के चतुर्दिक गाथाओं का निर्माण नहीं हो सका है क्योंकि उनका व्यक्तित्व किसी युद्ध, विजय या अलौकिक कृत्य से नहीं जुड़ा हैं। वरुण को ऋत् का स्वामी कहा गया है।भौतिक तथा प्राकृतिक शक्तियों कोव्यक्ति विशेष पर आरोपित करने तथा मानवीकरण करने के कारण वरुण से भौतिक मूल्य छिन गया जैसे इन्द्र वर्षा के स्वामी हो गए तो भास्कर सूर्य जाज्वल्यमान पिण्ड के रूप में पूज्य हुए।अंततः वरुण की उपासना भूस्थित जल के देवता के रूप में सीमित हो गयी।

वस्तुतः वरुण का महत्ता ऋत् के नैतिक पक्ष के कारण अधिक थी। इस कारण अनृत का भी ऋत् के नैतिक पक्ष को समर्थन प्राप्त है।

4.4.1.2 सूर्यः–

ऋग्वेद के अनुसार सूर्य पुरुष के नेत्र से उत्पन्न हुए हैं इनका भौतिक सूर्य से निकट का सम्बंध दिखाई पड़ता है। मंत्रों के द्रष्टा ऋषियों ने सूर्य रूी दैदीप्यमान पिण्ड का सदैव स्मरण किया है। यह घौस के पुत्र हैं जो रथ पर आरूणहोकर समस्त लोकों में विचरण करते हैं जिनको सात अश्व या अश्वनि खींचते हैं। यह उषा की गोद में प्रकाश प्राप्त करते हैं। इनके पथ का निर्माण वरुण, मित्र, आर्यमन तथा इनके दूत पूषन करते हैं।

4.4.1.2.1 सूर्य से संबन्धित मिथक और अनुष्ठान :–

सूर्य सम्पूर्ण जगत पर सबकुछ देखने वाले हैं। सूर्य की दृष्टि सभी प्राणी तथा मनुष्यों के पाप पुण्य पर रहती है। सूर्य के आगमन पर मनुष्य जागकर मनुष्य अपने अभीष्ट कार्यों की पूर्ति में लग जाते हैं। अनेक मंत्रो में सूर्य का वर्णन आकाशचारी पक्षी के रूप में किया गया हैं। सुपर्ण, श्येन आदि संज्ञाओ से भी विभूषित सूर्य मनुष्यों तथा देवताओंके लिए अंधकार का विनाश कर प्रकाश व्याप्त करते हैं।ये आयुष्य की वृद्धिकरने वाले तथा व्याधियों और दुःस्वप्न को दूर करने वाले हैं। सूर्य से वरुण, मित्र एवं अन्य देवताओं के समक्ष मनुष्यों को निष्पाप घोषित करने की प्रार्थना की जाती है। सभी प्राणी और सकल विश्व सूर्य पर निर्भर है। ऋग्वेद में इनकी उपासना कल्याणकारी देवता के रूप में की गई हैं।

4.4.1.3 सवितृ तथा इनसे सम्बंधित मिथ्यायें और अनुष्ठान :–

कहे जाने वाले सवितृ सौर मण्डल के देवता हैं जिनका स्वर्णिम रथ शुभ्र वर्ण के घोड़े खींचते हैं। सक्ति का प्रमुख गुण है विभूति और ओजस है जिससे वह प्राणियों का निरीक्षण करते हैं तथा आशीर्वाद प्रदान करते हैं। सायण ने सूर्य से पूर्व सूर्य की अवस्था को सवितृ की संज्ञा प्रदान की है। यास्क ने प्रकाश के आरम्भ होने के काल को सवितृ से सम्बन्धित किया है। कुछ मंत्रों में सवितृ को निद्रा को देने वाला कहा गया है।

4.4.1.4 पूषन :–

अनेक दूर क भागों के ज्ञाता पूषन का जन्म पृथ्वी एवं द्युलोक से दूर हुआ था। यह मृतकों को उनके पितरों तक पहुंचाते हैं।ये पथों के रक्षक भी कहें जाते हैं। ये पशुओं की व्याधियों से रक्षा करते हैं। खोए हुए पशुओं को खोज लेते हैं।ये भेड़ों के बाल से वस्त्र निर्माण करते हैं। पशुओं के बिखर जाने पर उन्हें एकत्रित करने के लिए पूषन सूक्तों के जाप का विधान वर्णित है।

4.4.1.4.1 पूषन से संबन्धित मिथक और अनुष्ठान :—

पूषन पथ प्रदर्शक भी कहें गए हैं। मार्ग को कंटकरहित करने, शत्रुओं से रहित करने, पथ को मंगलमय करने एवं यात्रा आरंभ करते समय पूषन को हविष प्रदान किया जाता है तथा विभिन्न देवताओंको प्रदान किए जाने वाले हविष में भी पूषण का भाग होता है। वह भाग घर के द्वार पर रख दिए जानें का विधान हैं।

इनका रथ आसान और चक्रादि से युक्त है जिसे अच्युत पद अज खींचता है। विवाहित स्त्रियों को सुख और सौभाग्य प्रदान करने वाली सूर्या इनकी पत्नी हैं।

यास्क ने पूषन को आदित्य कहा हैं। परवर्ती साहित्य भी पूषन को सूर्य का ही एक पर्याय स्वीकार करतेहै। परन्तु पूषन को सूर्य की कल्याणकारी प्रकृति का ग्राम्य देवता मानना अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है।

4.4.1.5 विष्णु :—

महाकाव्यों में तथा पुराणों के महत्वपूर्ण देवता विष्णु को ऋग्वेद में सौर मंडल के प्रमुख देवता सूर्य का क्रियाशील स्वरूप स्वीकार किया गया हैं। विष्णु का आशय गतिमान से है। इनको उरुक्रम तथा उरुगाय जैसी उपाधियों से विभूषित किया गया है।

4.4.1.5.1 विष्णु से संबन्धित मिथ्यायें और अनुष्ठान :—

विष्णु की सर्वाधिक प्रतिष्ठा त्रिविक्रम के रूप में प्रतिष्ठित उनके तीनों पगों द्वारा ब्रह्माण्ड का माप करना है। यास्क से पूर्ववर्ती विद्वान 'और्णवाभ' तथा कुछ यूरोपीय विद्वान् ने तीन पदों को सूर्योदय, मध्याहन, सूर्यास्त बताया हैं। 'शाकपूर्णि'ने विष्णु के तीन पदों को तीनों लोको से सम्बन्धित किया हैं। मंत्रो में वर्णन हैं कि विष्णु ने मानवता के कल्याण के लिए तीन बार पृथ्वी को नापा था।

ऋग्वेद में विष्णु और इन्द्र के मित्रता का भ वर्णन प्राप्त होता है। वृत्रवध में इन्द्र को विष्णु का सहयोग हुआ था।ऋग्वेद में विष्णु और इन्द्र को मित्र बताया गया है। विष्णु ने जहाँ इन्द्र की वृत्रवध में सहायता की वहीं इन्द्र ने विष्णु की ब्रह्माण्ड को मापन में सहायता प्रदान की।

ब्राह्मण साहित्य में भी विष्णु के तीन पदों के विषय में जानकारी प्राप्त होती हैं। एतरेय ब्राह्मण में वर्णन मिलता हैं कि युद्धरत इंद्र एवं विष्णु का असुरों के साथ समझौता होने का विवरण प्रापत होता है जिसमें जितना क्षेत्र विष्णु अपने तीन पर्गों से नापेंगे वह देवों का हो जाएगा अतः विष्णु ने तीन पदों में तीनों लोकों को नाप लिया। शतपथ ब्राह्मण में त्रिवक्रम कावर्णन हीं है। तैत्तिरीय संहिता में विष्णु को वामन रूप लेकर तीनों लोकों को जीत लेने का वर्णन प्राप्त होता है।

ऋग्वेद में विष्णु के वराहवतार, मत्स्यावतार तथा कुर्मावतार के मूल का भी वर्णन है। ऋग्वेद में इन्द्र के कहने पर विष्णु के द्वारा वराह की 100 भैंसो और क्षीर सुरा का अपहरण करने का वर्णन है। शतपथ ब्राह्मण में एमुष वराह का वर्णन जगत के कल्याण्कर्त्ता के रूप में किया गया हैं। तैत्तिरीय संहिता में उस वराह को पृथ्वी को उठाते हुए किया गया है। महाभारत में मत्स्य को प्रजापति एवं पुराणों में विष्णु का मत्स्यावतार कहा गया हैं।

4.4.1.6 घुस्थानीय अन्य देवता :—

विवस्वत्, आदित्यगण, उषा, आर्यमन, आश्विनद्वय आदि अन्य प्रमुख देवता है। विवस्वत् का वर्णन अवेस्ता में मानव के प्रथम यज्ञकर्ता के रूप में हुआ है। अदिति के पुत्र आदित्य गण की संख्या समय समय पर बदलती रहीं हैं इनकी संख्या 6,7,8 तथा 12 बताई गई हैं। उषा का वर्णन सूर्य की प्रेमिका के रूप में है जिसके पीछे सूर्य सदैव चलते है परन्तु प्राप्त नही कर पाते। इन्हे आदित्य भग की बहन कहा गया है। आश्विन द्वय रात्रि तथा उषा के पुत्र हैं।

4.4.2 अंतरिक्ष स्थानीय देवता :—

अंतरिक्ष स्थानीय देवता में इंद्र, रूद्र, मरुत, पर्जन्य आदि प्रमुख हैं।

4.4.2.1 इंद्रः—

वैदिक देवमंडल में इंद्र की प्रतिष्ठा सर्वाधिक शक्तिशाली के रूप में हैं। यह दस्युओं का विजेता तथा आर्यों का सर्वश्रेष्ठ देवता था जो शत्रुओं को युद्ध में पराजित करता था। इन्द्र के विषय में वर्णित है कि ये पृथ्वी, अंतरिक्ष ओर आकाश से भी विशाल थे, आकाश और पृथ्वी मिलकर भी इंद्र के आधे नहीं थे। इंद्र की मुट्ठी में दोनों लोक आ सकते थे इसका मुखमंडल सूर्य के समान प्रकाशमान था। इंद्र अपनी इच्छा के अनुसार रूप परिवर्तित करने की शक्ति थी। इंद्र को अस्त्र वज्र था जिससे वह शत्रुओं का संहार करता था, इसी वज्र से इंद्र ने अनेक शत्रुओं को पराजित किया था। इन्द्र को पुरन्दर के नाम से भी जाना जाता हैं। इन्द्र की सबसे महत्वपूर्ण विजय वृत्र पर थीं, जिसे इसने अपने वज्र से परास्त कर जल को मुक्त कर दिया था।

4.4.2.1.1 इंद्र से सम्बन्धित मिथक और अनुष्ठान :—

एतरेय ब्राह्मण में वर्णन मिलता हैं कि देवताओं ने मिलकर वज्र का निर्माण किया तथा इंद्र को प्रदान किया। इंद्र के सुनहले रथ को दो हरे रंग के घोड़े खींचते थे। इंद्र सर्वाधिक मात्रा में सोम पान करते हैं इसलिए इन्हें सोमपा, सोमपावन उपाधि से भी विभूषित किया गया हैं, परन्तु अधिक सोम पान का व्यसन कष्टकारी होता हैं जिस प्रकार अधिक सोमपान से मनुष्य रोगी हो जाता हैं उसी प्रकार अधिक सोमपान का सेवन करने से इंद्र स्वयं पीड़ित हों गए थे इन्द्र के पीड़ित होने पर देवताओं ने सौत्रामणी के द्वारा उनका उपचार कराया था।

ऋग्वेद के 250 सूक्त में इंद्र का वर्णन किया गया हैं। वर्णित मंत्रों में इन्द्र को देवता या मनुष्य, या पार्थिव से श्रेष्ठ बताया गया है। वरुण और सूर्य भी इंद्र की आज्ञा के अधीन थे। इंद्र अखिल विश्व के एक मात्र राजा कहे गए हैं ''एको विश्वस्य भुवनस्य राजा ।'' इंद्र को शची पति, शची वत, शतक्रतु, शक्र आदि से भी विभूषित किया गया हैं।

वृत्रवध इंद्र की सबसे बड़ी उपलब्धि मानी गई है। इंद्र के इस महत्वपूर्ण कार्य का आख्यान ऋग्वेद के आरंभ के दो मंत्रो में भी प्राप्त होता हैं जैसे ''मैं इंद्र के वीरतापूर्ण कृत्यों की घोषणा करूंगा जिन्हें इस वज्र धारण करने वाले योद्धा ने सर्वप्रथम किया, इन्होंने पर्वत पर श्यन करने वाले दैत्य का वध किया, जलों को मुक्त किया, पर्वत का उदर भेदन किया।''

वृत्रवध के बाद जब इंद्र ने मनुष्यों के लिए जल मुक्त कर दिया तो सूर्य को भी आकाश दृश्य रूप में अवस्थित कर दिया तथा सूर्य की उषा को उत्पन्न कर इनके लिए पथ का निर्माण किया।

इन्द्र को आर्यों का रक्षा करने वाला कहा गया है। आर्यों के ही आवाहन पर आर्यों की रक्षा की, इन्होंने पंच सहस्त्र श्याम वर्ण शत्रुओं को मार और किलों का भेदन किया। इन्होंने दस्युओं को आर्यों के सम्मुख झुकने के लिए विवश किया। इन्द्र को सुदास के शत्रुओ को नदी में डुबो देने का वर्णन प्राप्त होता है।

'कौशिक' उपाधिधारी इन्द्र प्रसन्न होने पर मनुष्यों को समृद्धता प्रदान करते है तथा अपने भक्तो की विजय में सहायता करते हैं। इन्द्र की वैदिक साहित्य में प्रधानता वैदिकोत्तर काल में कम होती दिखाई देती है तथा इस काल में इन्द्र के साथ अनेक उत्कृत्यों को जोड़ दिया जाता है।

4.4.2.2 अंतरिक्ष के अन्य देवता :–

अंतरिक्ष में इंद्र के अन्य वात्, वायु, मरुद्गण, मातरिश्वन, त्रितअपात्य, अपानपात, रुद्र, पर्जन्य, ऋभु आदि देव प्रमुख हैं। वात् या वायु को पतन का देवता माना गया है परन्तु वायु इंद्र से सम्बन्धित तथा वात् पर्जन्य से सम्बन्धित हैं। पुरुष सूक्त में वर्णन है कि वायु की उत्पत्ति पुरुष के प्राण से उत्पन्न हुई हैं। वायु को भी सोम अति प्रिय हैं। वात पवन के देवता माने गए हैं इनके कारण ही धुल उड़ती हैं, मेघ भागने लगते हैं तथा बिजली चमकने लगती हैं। मरुद्गण देवताओं के समूह हैं। इनकी संख्या 60 की तिगुनी या सात की तिगुनी कही गई हैं। इनके पिता रुद्र तथा माता पृश्नि हैं। जनाश्व मरुद्गण के रथ को खींचते हैं, जो विद्युत के समान प्रतीत होता हैं। मरुदगण अत्यन्त क्रोधी कहे गये है जिनको शांत करने के लिये स्तुतियों की रचना की गयी।

4.4.2.3 रूद्र तथा रुद्र से संबन्धित मिथक और अनुष्ठान :–

ऋग्वेद में रुद् देवता का वर्णन रौद्र रूप वाले देव के रूप में हुआ है जिनके वेणीयुक्त केश हैं, वर्ण भूरा हैं तथा ये कंठाहार धारण करते हैं। अथर्ववेद में इनके श्याम वर्ण पेट, रक्त वर्ण पीठ तथा नीले ग्रीवा का वर्णन प्राप्त होता हैं। ऋग्वेदीय रूद्र झंझावतों व विद्युतधारी घने बादलों के दैवीकृत स्वरुप हैं। ऋग्वेद में इनसे प्रार्थना की गई हैं कि क्रोध में आकर ये अपने उपासकों को क्षति न पहुंचाएं। रुद्र की प्रार्थना आपत्ति से बचने और कल्याण प्राप्ति के लिए भी की जाती थी। ये रोगों को दूर करने वाले थे तथा सहस्त्र औषधियां रखते थे। इन्हें जलाषभेषज उपाधि भी प्रदान की गई हैं।

4.4.3 भूस्थानीय देवता :–

भूस्थान के देवताओं में अग्नि, सोम, वृहस्पति आदि प्रमुख हैं।

4.4.3.1 अग्नि तथा उनसे संबन्धित मिथक और अनुष्ठान :–

पृथ्वी के देवताओं में अग्नि का स्थान सर्वोपरि हैं। वैदिक देवी देतआओं में इंद्र के बाद अग्नि का ही विशिष्ट स्थान है। अग्नि से सम्बंधित 200 मंत्र ऋग्वेद में संग्रहित किए गए हैं। इनकी कई जिह्वाए हैं जो संभवतः अग्नि की लपटे हैं। जिनमे सात प्रमुख है। इनकी क्षुधा कभी शान्तनही होती, इनको जो भी दिया जाता है, वह ये ग्रहण कर लेते है। देवगण के पास अग्नि के द्वारा ही हविषपहुँचता है। इनका हविष समिध और घृत हैं तथा ये सोमपान भी करते हैं। इनकी उत्पत्ति अरणियों के गर्भ से हैं परन्तु उत्पन्न होते ही यह आरणियों को खा

जाते हैं। अग्नि का मानव से तीनो काल का सम्बंध हैं। पितरों ने भी अग्नि को समिध दिया, वर्तमान के लोग भी देते हैं तथा भविष्य में भी अग्नि को समिध दिया जाएगा। अग्नि एक मार्ग है, जो पृथ्वी तथा स्वर्ग दोनो को जोड़ता है। अग्नि की मान्यता तद्पि, पुरोहित होता, ऋत्विध के रूपों में भी हैं।भांगिरस त्रधषि का प्रतिनिधि जाने वाले अग्नि प्राणियों के लिय अत्यन्त हितकारी है।

4.4.3.2 सोम से संबन्धित मिथक और अनुष्ठान :–

सोम एक प्रकार की लता हैं जिसकी उत्पत्ति स्वर्ग मे हुईं हैं। श्येन नामक पक्षी इसे स्वर्ग से उठाकर भागा था तथा भागते समय इसकी लता मूजवंत पर्वत पर गिर गई थी इस पर्वत से इसका प्रयोग आर्यों ने आरंभ किया था। सोम लता के पुष्प से मादक पदार्थ टपकता था इसे पीस कर रस निकालकर दूध में मिलाकर पिया जाता था। सोमपान करने से कार्य करने की उत्तेजना में वृद्धि होती हैं इसलिए आर्यों ने इसे देवत्व प्रदान किया।

कालान्तर में यह लता देवताओं की भी प्रिय पेय पदार्थ बन गई, महान कार्य करने से पूर्व मनुष्यों की भाँति देवता भी इसका पान करने लगे। इंद्र वृत्र संग्राम में सोम का महत्वपूर्ण योगदान था। सोम के कारण ही इंद्र विजयी हुए। मुजवंत पर उत्पन्न होने के कारण इसे 'मौजवंत' कहा गया। अवेस्ता में वर्णन हैं कि सोम पर्वतों पर प्राप्त होता हैं। सोम दिव्य लता प्रकार की हैं । जिसे स्वर्ग शिशु भी कहा गया हैं, सोम को वनस्पतियों का राजा कहा गया हैं। कालांतर में सोम सेवन बढ़ता चला गया और यज्ञों की दो कोटिया बन गई हविर्यज्ञ और सोमयज्ञ। सोमयज्ञ की प्रसिद्धि राजाओं, सम्राटो एवं अधिराजाओं में अश्वमेध, वाजपेय, पुरुषमेध आदि याों के रूप में हुई।

4.5 वैदिक देवियां तथा इनसे संबन्धित मिथ्यायें और अनुष्ठान :–

वैदिक देवमंडल में देवियों का स्थान गौण रहा हैं। वैदिक देवियों में पृथ्वी, उषा, अदिति, दिति, रात्रि, राका और अनुमति आदि प्रमुख हैं।

4.5.1पृथ्वी :–

द्यौस के युगल रूप में पृथ्वी की परिकल्पना भारोपीय काल से हैं परन्तु ऋग्वेद में पृथ्वी की परिकल्पना द्यौस के युगल के रूप में दृष्टिगोचर होती है।पृथ्वी को वह स्थान नहीं प्राप्त हुआ जो देवताओं को प्राप्त था। ऋग्वेद में इनका वर्णन प्रमुखतःधरती के भौतिक गुणों की ओर संकेत करता हैं। यह पर्वतों का भार संभालने वाली तथा वनौषधियों को धारण करने वाली हैं। इनकी महानता, दृढ़ता तथा प्रभा के कारण इन्हें 'आर्जुनी' कहा गया हैं। अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त में पृथ्वी के वर्णन में इनके भौतिक विशेषताओं को अधिक तथा देवत्व को कम महत्व दिया गया हैं।

4.5.2 उषा :–

वैदिक देवमंडल में देवियों में ऊषा की प्रतिष्ठा सर्वाधिक है जिसकी आभा पर वैदिक कवियों ने भावपूर्ण मनोरम छन्दो की रचना की है। जिससे उषा का चरित्र और अधिक आकर्षक बन गया हैं। ऊषा सदैव चिरयौवन रहती है जो नित्य उदित होती है।

उषा के कल्याणकारी कार्यों का भी वर्णन प्राप्त होता हैं, इनका कार्य सोते प्राणियों को जगाना हैं, पक्षियों को अपने नीड़ से बाहर निकालना हैं, मनुष्यों को भोजन की व्यवस्था करने के लिए प्रेरित करना हैं। ऊषा आवागमन करती रहती हैं तथा कल्याण की मार्ग में कभी नहीं थकती हैं। ऊषा के रथ को लाल घोड़े खींचते हैं। उषा सूर्य के लिए पथ प्रदान करती हैं। सूर्य उषा के पीछे पीछे चलता हैं।

उषा से व्यक्ति को शस्य संतान से संपन्न करने की प्रार्थना की जाती है। परन्तु सोमयज्ञ में कोई अधिकार ऊषा को नहीं दिया गया हैं। इसका कारण संभवतः उस युग पितृसत्तात्मक परिवार का होना हो सकता हैं।

4.5.3 अदिति :–

अदिति का ऊषा वर्णन मित्र, वरुण एवं अर्यमन की मात्रा के रूप में हुआ जिसकी शारिरीक विशेषता का वर्णन नहीं हुआ है। इनके पुत्र आदित्यगण कहेगये हैं। मित्र और वरुण की माता होने के कारण उपासक इनसे पाप दूर करने की प्रार्थना करते हैं।

कहीं–कहीं अदिति का वर्णन प्रकृति की प्रतिकृति के रूप में भी किया गया हैं। आदिति आकाश, वायु, भूत और भविष्य हैं। उषा को अदिति का मुख स्वीकार किया गया हैं। अदिती से भी शस्य, सन्तान, पशुधन के वृद्धि के लिए प्रार्थना की गई हैं। अदिति की तुलना गाय से भी की गई हैं।

मैक्समूलर ने अदिति को पृथ्वी के उस असीम विस्तार अनन्त क्षितिज तथा आकाश का छोर कहा है जिसे मनुष्य अपनी खुली आंखों से देखता है पर इनका ओर छोर निश्चित नहीं कर पाता है। यास्क ने अदिति को देवताओं की शाक्तिशाली माता मानकर इसे अंतरिक्ष की देवी कहा हैं।

4.5.4 दितिः–

इनका वर्णन अदिति के साथ हुआ है। सायण के अनुसार अदिती का अर्थ अखंड पृथ्वी तथा दिति का अर्थ पृथ्वी पर निवास करने वाली प्राणी हैं। राथ के अनुसार इनका अर्थ क्रमशः अविनश्वर एवं नश्वर हैं। अथर्ववेद में दिति के पुत्रों का वर्णन मिलता हैं, जो देवों के शत्रु हैं।

4.5.5 रात्रि :—

रात्रि को दिवो दुहिता भी कहा गया हैं। जो तारो से प्रकाशित होती हैं। इनके नेत्र तारक मण्डल हैं। रात्रि अनेक विभूतियों से विभूषित होती है, यह प्रकाश से अन्धकार को भगाकर, सम्पूर्ण पृथ्वी पर व्याप्त हो जाती हैं। रात्रि वह काल है जब व्यक्ति अपने घर तथा पक्षी अपने घोसले में जानें लगते हैं। यह काल विश्राम का काल बताया गया है।

एक मंत्र में रात्रि कोसूर्योदय के समय उषा के लिए रिक्त स्थान छोड़ कर दूसरे लोक में चले जाने का वर्णन प्राप्त होता हैं।

4.5.6 राका और अनुमति :—

ऋग्वेद में राका एक उदार एवं समृद्ध देवी के रूप में वर्णित है जिसको याज्ञिक पूर्णिमा की रात्रि का अंतिम पहर कहते हैं। याज्ञिक ने अनुमति को पूर्णमासी का पहला पहर कहा है तथा मास्क ने इन दोनों का वर्णन देव पत्नी के रूप में कहा है।

4.5.7 कुहू सिनीवाली :—

यास्क कुहू एवं सिनीवाली को देव पत्नियां मानते हैं परन्तु याज्ञिक इन्हें अमावश्यायें बताते हैं। याज्ञिक के अनुसार अमावस्या का पूर्व भाग सिनीवाली और अन्तिम भाग कुहू हैं। ऋग्वेद में सिनिवाली को देवताओं की भगिनी कहा गया हैं। इनको पृथुल जघन, विशाल केश, पाश वाली, नितम्ब शालिनी, शुभग भुजा उपासको को शस्य सन्तान प्रदान करने वाली कहा गया हैं। अथर्ववेद में सिनीवाली का वर्णन विष्णु पत्नी के रूप में किया गया है।

4.5.8 वाक् :—

ऋग्वेद में वाक् देवी के लिए एक सुक्त का वर्णन प्राप्त होता हे जो इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि और अश्विनो को धारण करती हैं, यह सभी देवताओं के साथ रहती हैं, तथा नास्तिको के लिए यह रुद्र का धनुष तानती हैं। इस स्तुति में इनको माध्यमिक देवों से उत्पन्न बताया गया हैं। निघंटू में वाक् को अंतरिक्ष स्थान देवताओं की कोटि में रखा गया हैं। ब्राह्मण ग्रंथों में वाक् को गंधर्वों का प्रेमी बताया गया हैं।

मरुतों की माता पृष्णि का के स्वरुप की निर्भरता प्राकृतिक उपदानों पर है। अश्विनी की माता सरव्यु का उल्लेख भी ऋग्वेद में हैं इनके अतिरिक्त पुरंधि, गुंगु वृहद्दिका, इला का वर्णन भीप्राप्त होता हैं।

4.5.9 देव पत्नियां :—

वैदिक देवों की पत्नी के स्वरूप में प्राकृतिक देवियों का भी वर्णन प्राप्त होता है। इस श्रेणी के अंतर्गत सर्वप्रथम द्यौस और पृथ्वी का वर्णन किया जाता हैं। कुछ ऐसी भी देवियों का उल्लेख प्राप्त होता हैं जिनका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है तथा इनका अस्तित्व पुलिंग पति के स्त्रीलिंग स्वरूप में हैं जैसे इंद्राणी, वरुणानी, अग्नायी आदि। इन देवियों के विशिष्ट गुणों का तथा पृथक रूप का अभाव है।

4.6 सारांश

वैदिक काल में अधिकांशतः पुरुष देवताओं की उपासना की जाती थी तथा देवियों का स्थान गौण था। देवताओं की उपासना यज्ञों के माध्यम से की जाती थी तथा मंत्रों का जाप किया जाता था। देवता यज्ञ की आहुति को ग्रहण कर इच्छा अनुसार फल देते थे। वैदिक धर्म का उद्देश्य मुख्यतः लौकिक सुखों की प्राप्ति करना था। देवताओं की उपासना युद्ध विजय, अच्छी फसल और पुत्र प्राप्ति के लिए की जाती थी। ये जीवन के सभी सुखों का उपभोग करने की इच्छा रखते थे। देवताओं के अनुष्ठान तथा प्रकृति में निरंतरता एवं परिवर्तन दोनों तत्व दृष्टिगोचर होते हैं।

4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

ऋग्वेद
अथर्ववेद
वायु पुराण
शतपथ ब्राह्मण
तैत्तिरीय संहिता
एतरेय ब्राह्मण
मत्स्य पुराण

4.8 सहायक उपयोगी पाठ्य पुस्तकें :–

- श्रीवास्तव, के. सी प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति, प्रयागराज, 2021–22
- सिंह, उपिंदर प्राचीन एवं पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास (प्राचीन काल से 12वी शताब्दी तक)
- दुबे, एच. एन– भारतीय संस्कृति
- दुबे, एच. एन– भारत की प्रारंभिक संस्कृतियां एवं सभ्यताएं
- सहाय, शिवस्वरूप – प्राचीन भारतीय धर्म एवं दर्शन
- शरण, आर. प्राचीन भारतीय धर्म एवं दर्शन का स्वरूप

4.9 निबंधात्मक प्रश्न :–

1. वैदिक काल में देवताओं का वर्गीकरण स्पष्ट कीजिए।
2. वैदिक काल में देवियों की महत्ता पर प्रकाश डालिए।
3. वैदिक काल में देवताओं के लिए वर्णित अनुष्ठानों का वर्णन कीजिए।
4. वैदिक धर्मों में वर्णित देवताओं से सम्बन्धित मिथकों की विवेचना कीजिए।

इकाई–5 भक्ति की उत्पत्ति एवं भक्ति पंथो का विकास अवधारणा

इकाई की रूपरेखा

5.1 प्रस्तावना
5.2 उद्देश्य
5.3 भक्ति की उत्पत्ति
5.4 भारत मे भक्ति का विकास
5.5 भक्ति पंथो का विकास
5.6 सारांश
5.7 सन्दर्भ ग्रंथ सूची एवं सहयोग पाठ्य पुस्तकें
5.8 निबन्धात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

भक्ति की व्युत्पत्ति भजं धातु से हुई है जिसका अर्थ है सेवा करना शामिल होना तथा बॉटना यहॉ सेवा करने का आशय अपने आराध्य ईश्वर की विविध प्रकार की उपासना विधियो से सेवा करना तथा शामिल होने का आशय है कि भक्त अपने भगवान में पूर्ण रूप से शामिल अथवा लीन हो जाये। इस प्रकार भक्ति आशय ईश्वर को सृजनकर्ता पालन कर्ता तथा संहारकर्ता मानकर जगत में हो रहे सभी कार्यो के पीछे ईश्वर की इच्छा को स्वीकार उनके शरण में रहकर जीवन जीना है। भक्ति की उत्पत्ति कब हुई इसमें विद्वानो में मतैक्यता नही है। कतिपय विद्वान भक्ति एवं धर्म का उदय एक साथ मानते है तथा कुछ विद्वान भक्ति को जन का धर्म बताते हुए इसे सनातन परम्परा के रूप में स्वीकार करते है।

5.2 उद्‌देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप

- भक्ति की प्राचीनता से परिचित हो सकेंगे।
- भक्ति पंथो से परिचित होंगे।
- भक्ति पंथो के विकास को जानेंगे।

5.3 भक्ति की उत्पत्ति

कतिपय विद्वानो की मान्यता है कि भक्ति एवं धर्म दोनो का उदय लगभग एक साथ हुआ तथा कुछ विद्वान भक्ति को भारत का सनातन जन धर्म मानते है। हड़प्पा सभ्यता के पुरास्थलो से प्राप्त मूर्ति आदि इस ओर संकेत करती है कि हड़प्पाई लोग मूर्तिपूजा के माध्यम से अपनी भक्ति भाव को प्रदर्शित करते रहे होंगे। वैदिक काल मे यज्ञ, हवन, बलि एवं कर्मकाण्ड से देवताओ को प्रसन्न करते थे किन्तु इसके अन्य वैदिक ऋचाओ की स्तुति भी भक्ति का प्रदर्शित करने तथा देवताओ को प्रसन्न करने का एक माध्यम थी। सूत्रकाल में भक्ति की लोकप्रियता जन सामान्य से ऊपर उठ गयी तथा समाज के उच्च वर्गो में भी यह प्रतिष्ठित हुई। भौतिक तथा अभिलेखीय साक्ष्यो से ज्ञात होता है कि द्वितीय शताब्दी ई पू में भक्ति के तत्व और धर्म के तत्व समान होने लगे थे।

पुराणोक्त भक्ति तथा वैदिक साहित्योक्त भक्ति में अन्तर दृष्टिगोचर होता है। भागवत में भक्ति का वर्णन ईश्वर की शरणागति को कहा गया है।

मामेकमेव शरणंमात्मान सर्वदेहिनाम।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्या हुयकुत्तो भयः।।

श्री मद भगवद्‌गीता में शरणागति के सिद्धान्त का उदात्त रूप वर्णित है–

सर्वधर्मान परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।
अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच।।

भारतीय भक्ति की उत्पत्ति विदेशी प्रभाव से मुक्त थी। फ्रांसीसी इतिहासकार सेनार्ट की मान्यता है कि भक्ति एक बलशाली मानवीय भावना है तथा अत्यन्त प्राचीन काल में ही भारत में इसका उदय हो चुका था। उनका मानना है कि वैदिक आर्यो में अदृश्य परमसत्ता के प्रति भक्ति का भाव था। बार्थ एवं कुछ अन्य विद्वान भी

भारत में भक्ति के उत्पत्ति को अत्यन्त प्राचीनकाल से सम्बन्धित करते है जो यह सिद्ध करता है कि भारतीय जनमानस के हदय में भक्ति का जन्म हुआ। जो पूर्णरूप से विदेशी प्रभाव से मुक्त थी।

भक्ति का उद्‌गम स्थल मनुष्य का हदय है। जब व्यक्ति की समस्त भावनाऍ ईश्वर को अर्पित हो जाती है तथा व्यक्ति अपने आपको शरणागत मानकर ईश्वर की इच्छा द्वारा सभी घटनाओ को घटित होना स्वीकार कर लेता है तो भक्ति का उदभव होता है। भक्ति एक साकार साधना है। मनुष्य उपनिषदोक्त दार्शनिक ज्ञान एवं कर्मकाण्डीय व्यवस्था की अपेक्षा किसी देवतन की भक्ति में शान्ति तथा संतोष का अनुभव किया। आरम्भ में ज्ञानी लोग भक्ति से दूर रहे किन्तु धीरे–धीरे उनकी भी अनुरक्ति हुई। श्रीमद भगवदगीता में भक्ति को मोक्ष का माध्यम बताया गया है तथा भक्ति को ही कालान्तर में नास्तिक धर्म के विरोध का साधन बताया गया।

5.4 भारत में भक्ति का विकास

भारत में भक्ति के क्रमिक विकास का आरम्भ स्पष्ट रूप से महाभारत से दृष्टिगोचर होता है। महाभारत में ईश्वर की प्राप्ति का मार्ग एकांतिक भक्ति बताया गया है तथा कृष्ण, विष्णु, नारायण एवं वासुदेव को भक्तो का आराध्य बताया गया है। ये देवता आज भी भक्ति के आधार बने हुए है। रामायण में राम को आराध्य मानकर उनकी परम ईश्वर तथा पुरूषोत्तम के रूप में भक्ति एवं अवतारवाद का वर्णन प्राप्त होता है। श्रीमद भागवदगीता में भक्ति का ज्ञान तथा कर्म के साथ योग प्राप्त होता है इसमें भक्ति को मार्ग तथा लक्ष्य दोनो बताया गया है। पॉचरात्र दर्शन में वर्णित भक्ति की विधियॉ भक्ति के विकास का महत्वपूर्ण चरण है। भालबर एव ंनायनार संतो ने अपने रोमांचित कर देने वाले अनुभवो द्वारा भक्ति का प्रचार प्रसार किया। पुराणो मे ंदेवी देवताओ के मानवीकरण तथा मूर्ति रूप में उनकी मन्दिरो में प्रतिष्ठा ने भक्ति का विकास किया। भागवत पुराण में भक्ति के प्राप्ति की व्याख्या की गयी जिसको कालान्तर में रामानुज ने दार्शनिक आधार दिया। इसी प्रकार मधुसूदन सरस्वती, अभिनव गुप्त, निम्बाकोचार्य एवं बल्लभाचार्य ने अद्वैत तथा भक्ति में साम्य स्थापित करने का प्रयास किया।

5.5 भक्ति पंथो का विकास

भक्ति में समर्पण एक ईश्वर के प्रति अधिक होता था जिसे भक्त सर्वोच्च सत्ता के रूप में स्वीकार करता था एवं जीवन तथा जगत की प्रत्येक गतिविधि को उसी से संचालित मानता था। इसी मान्यता के क्रम मं विभिन्न पंथो का विकास हुआ इसके साथ ही कुछ ऐसे लोग थे जो निराकार सत्ता की भक्ति करते थे। इनका विवरण इस प्रकार है–

शैव पंथ

वेदो में शिव के लिये भिन्न–भिन्न सम्बोधनो का प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में शिव को रूद्र कहा गया है। ऋग्वेद में रूद्र से संबंधित तीन प्राप्त सूत्रो में रूद्र को बि–रूप बभुवर्ण, पीवर अड्‌ग, सुभग ओष्ठधारी तथा केशधारी कहा गया है। यजुर्वेद में नीलग्रीव, पर्वतवासी, कृतिकावासताम्रवर्ण एवं लोहित आदि सम्बोधनो का प्रयोग शिव के लिये किया गया है। अथर्ववेद शिव को नीलकंठ, लोहितपृष्ठ तथा नीलोदर से सम्बोधित किया गया है।

ऋग्वेद में रूद्र का महत्व विष्णु से कम दृष्टिगोचर होता है परन्तु कालान्तर में उनकी महत्ता में उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। ऋग्वेद में रूद्र एक भयानक देवता है। ऋग्वेद में कई मंत्रो द्वारा क्रोध से उपासको को बचाने की प्रार्थना की गयी है।

रूद्र वज्र एवं विद्युत धारण करने वाले देवता है तथा उन्हें तीर चलाने में भी निपुणता प्राप्त है। रौद्ररूप के साथ उनके व्यक्तित्तव में प्रज्ञा, दानशीलता, वदान्यता तथा शिवतव भरा हुआ है। ऋग्वेद में रूद्र के लिए एक मंत्र में नृध्न तथा एक स्थल पर त्रयम्बक विशेषण का प्रयोग हुआ है।

वाजसनेही संहिता में रूद्र को समस्त लोको का स्वामी, अन्नो, खेतो तथा वनो का अधिपति एवं चोर एवं डाकुओ का भी स्वामी बताया गया है। वाजसनेही संहिता में ही सम्बिाक को रूद्र की बहन बताया गया है किन्तु कालान्तर में उन्हें माता के रूप में स्वीकार किया गया।

यजुर्वेद में शर्व तथा भव नाम रूद्र के लिए उपयोग में लाये गये है। इसके शतरूद्रिय स्त्रोत में प्रकृति कार्य एवं भाग को रूद्र के क्रिया क्षेत्र में रखा गया है। ब्राहाण ग्रंथो में रूद्र को पशुहन्ता एवं मानवहन्ता के रूप में प्रदर्शित किया गया है। जिससे देवता भी डरते थे। कल्पसूत्रो में शिव की श्रेष्ठता अन्य देवताओ से अधिक बताई गयी है। सूत्र ग्रंथो में रूद्र के लिये शिव, हर, मृड़ तथा शंकर नामो का प्रयोग हुआ है तथा वाजसनेयि संहिता के उत्तरवर्ती अध्यायो में रूद्र के लिये महादेव और ईश जैसे सम्बोधन भी प्रयोग किये जाने लगे है। कालान्तर में रूद्र के लिए शर्व एवं भव का भी प्रयोग हुआ है जो अग्नि के प्राचीन नाम है।

यजुर्वेद में रूद्र के लिए व्युप्त केश के प्रयोग के आधार पर विद्वान उन्हें धार्मिक नृत्य का देवता स्वीकारते है। शतपथ तथा कौषीतकि ब्राहाण ग्रंथो में रूद्र को ऊषा का पुत्र कहा गया है। इनमें रूद्र के आठ नामों का उल्लेख प्राप्त होता है– रूद्र, शिव उग्र, अशनि, भव पशुपति महादेव तथा ईशान। जिसमें प्रथम चार उनके विनाशकारी रूप है और अन्तिम चार कल्याणकारी रूप।

रूद्र के अमंगलकारी, विनाशकारी और उग्र रूप का उल्लेख ग्रहयसूत्रो से भी प्राप्त होता है जिसमें रूद्र के बारह नामो का उल्लेख प्राप्त होता है।

उपनिषद् काल में रूद्र और शिव एक रूप में स्थापित हो जाते है। श्वेताश्वरतर एवं अथर्वशिरम आदि उपनिषद् में शिव की महिमा का वर्णन है। श्वेताश्वरतर उपनिषद् में रूद्र की प्रतिष्ठा ब्रहाा के स्थान पर कर उन्हें सर्वश्रेष्ठ देवता स्वीकार किया गया है।

शिव की प्रधानता महाकाव्यो में भी प्रतिष्ठित है। गंगा को पृथ्वी पर लाने के लिए भागीरथ ने शिव की ही तपस्या की थी तथा सृष्टि की रक्षा करने के लिए शिव ने ही समुद्र मंथन से निकले हलाहल का पान किया था। रामायण के अनुसार शिव की आराधना भारत भूमि की सीमा के पार लंका में भी की जाती थी। रावण की प्रतिष्ठा शिवभक्त के रूप में ही की गयी है। महाभारत के अनुसार अर्जुन को पाशुपत अस्त्र की प्राप्ति हिमालय पर किये गये शिव की उपासना के कारण हुयी थी।

पुराणो में शिव के विनाशकारी एवं कल्याणकारी दोनो ही रूपो का वर्णन प्राप्त होता है। पुराणो में शिव लिंग पूजा का भी वर्णन प्राप्त होता है।

प्राचीन भात में शिव की उपासना की सिद्धि पुरातात्विक एवं साहित्यिक साक्ष्य भी करते है। भारत की प्राचीन आहत मुद्राएँ जिनकी प्रचीनता पॉचवी–छठी शताब्दी ई०पू० तक जाती है, पर शिव उपासना के प्रतीक वृषभ, नन्दिपद आदि शिव प्रतीक की प्राप्ति होती है। अर्थशास्त्र में दुर्ग अथवा नगर–निवेश करते समय उनके मध्य शिव सदन स्थापित करने का उल्लेख है। पंतजलि ने महाभाष्य में शिव के अनेक नामो का उल्लेख यथा–भव, सर्व, गिरीश, शिव, रूद्र, त्रयम्बक, महादेव आदि। विदेशी शासको शक, पल्लव एवं कुषाण आदि शासको

के मुद्राओ पर शिव, वृषभ एवं त्रिशुल की आकृतियो का अंकन यह सूचना देता है कि वे भी शैव धर्म से प्रभावित थे।

गुप्त शासको के काल में वैष्णव धर्म के साथ–साथ शैव धर्म का भी विकास हुआ।

शैव धर्म का प्रसार मात्र उत्तर भारत की सीमा तक सीमित नही था बल्कि इसका प्रसार एवं लोकप्रियता दक्षिण भारत में भी व्याप्त थी। दक्षिण भारत में शासन करने वाले राजवंश–पल्लव, चालुक्य राष्ट्रकूट, चोल तथा पाण्ड्य आदि के शासन काल में शैव धर्म की उन्नति हुई।

शैव धर्म में मत एवं नियमो के आधार पर अलग–अलग सम्प्रदायो का विकास हुआ। इनके विकास का आरम्भ गुप्त काल से होने लगा था। शैव सम्प्रदाय, पाशुपत सम्प्रदाय, कालदमन सम्प्रदाय, कापालिक सम्प्रदाय तथा लिंगायत अथवा वीरशैव सम्प्रदाय की गणना शैव धर्म की प्रमुख सम्प्रदायो में होती है।

वैष्णव धर्म में प्रमुख रूप से कृष्ण की उपासना होती है। वैष्णव धर्म का विकास भागवत धर्म से माना जाता है। कृष्ण का प्रथम उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद में घोर अंगरिस ऋषि के शिष्य के रूप में हुआ है तथा इसी ग्रंथ में कृष्ण को देवकी पुत्र कहा गया है। ऋग्वेद में कृष्ण का निवास–स्थल अंशुमती नदी का तट बताया जाता है। कुछ विद्वानो ने अंशुमती नदी का तादात्य यमुना नदी से और ऋग्वैदिक कृष्ण का तादाम्य वासुदेव कृष्ण से स्थापित करते है। डी०सी० सरकार प्रभृति विद्वानो ने इसकी सम्भावना पर विशेष बल दिया है। आर०जी० भण्डारकर प्रभृति विद्वान वासुदेव क ृष्ण को वासुदेव के गोत्र के रूप में सिद्ध करने का प्रयास करते है। उनके अनुसार कृष्ण नाम कार्षणायन गोत्र के आधार पर रखा गया है तथा वासुदेव उनका मूल नाम था अतः उन्हें वासुदेव कृष्ण कहा है। कालान्तर में कृष्ण को वृष्णि कुल से सम्बद्ध किया गया जिसका उल्लेख उत्तर वैदिक साहित्य मे प्राप्त होता है यह वासुदेव की शाखा थी, इसका मूल कुल यदुवंश हैं जिसका उल्लेख हमें ऋग्वेद से प्राप्त होता है। यदु जन की नौ शाखाओ का विकास हुआ जिसमें सात्वत् अंधक वृष्णि आदि थे। इसी कुल में कृष्ण का जन्म माना जाता है। कृष्ण की उपासना बाद में विष्णु के अवतार के रूप में की जाने लगी।

पद्मपुराण के अनुसार, विष्णु के अनुयायियो को भागवत् या वैष्णव कहा जाता है।

सर्व देवदन्परित्यित्यनित्यं भगवषाश्रयः।
रतस्तदीयसेवायाः य भागवत उच्चते।।

कृष्ण को विष्णु का अवतार माना गया है। महाभारत काल में भागवत धर्म एवं वैष्णव धर्म का विलय हो जाता है। महाभारत में युधिष्ठिर द्वारा कृष्ण की पूजा सर्वश्रेष्ठ पुरूष के रूप में होने का उल्लेख प्राप्त होता है तथा उन्हें अचिन्त्यगतिरीश्वर एवं योगीश्वर कहा गया है।

आचार्य क्षिति मोहन सेन की मान्यता है कि वैष्णव धर्म .... सम्भवतः प्राग्वैदिक परम्परा से हुई है। विष्णु सूर्य के क्रियाशील रूप का प्रतिनिधित्व करते है। विष्णु का वर्ण श्यामह‌े। विष्णु का महत्व ऋषि भृगु द्वारा पदाघात का आर्यो का पूज्य घोषित करने से तथा सम्पूर्ण जगत को तीन पगो से भाप लेने पर बढा। कृष्ण की महत्ता गोवर्धन पर्वत धारण कर इन्द्रपूजा के विरोध के कारण बढ़ी। कुछ विद्वान विष्णु को वैदिक देवता स्वीकारते है। ऋग्वेद में विष्णु पर अलग सूक्त संकलित है–'

तदस्य प्रियमाभि पाथो अस्यां नो यत्र देवयवो मदन्ति।
उरूक्रमस्य स हि बन्धुरित्या विष्णोः परमे पदे भरव उत्सः।।

विष्णु को उपेन्द्र, इन्द्रावरज, उरूगाय, उरूक्रम आदि सम्बोधनो से अभिहित किया गया है। विष्णु को अमृत का स्त्रोत बताया गया है। शतपथ ब्राह्मण से प्राप्त विवरणो के अनुसार विष्णु देवताओ के युद्ध में सबसे शक्तिशाली देव बने तथा उन्हें सर्वाधिक प्रसिद्ध घोषित किया गया। यज्ञो के प्रतिरूप में भी उनको प्रतिष्ठित किया गया।

रामगोपाल भण्डारकर महोदय वैष्णव धर्म को मूल रूप से तीन तत्वो के योग से उत्पन्न मानते है। पहला तत्व ऋग्वेद में उल्लिखित विष्णु नाम दूसरा तत्व महाभारत के शान्तिपर्व के नारायणी उपाख्यान नारायण धर्म तथा तीसरा तत्व महाभारत कालीन वासुदेव मत है में गोपिका, राधिका एवं ग्वाल–बाल की कहानियॉ कालान्तर में जुड़ी।

गुप्त काल (320ई0–550ई0) वैष्णव धर्म के चरमोत्कर्ष का काल माना जाता है। गुप्त शासको में अधिकांश वैष्णव धर्म के अनुयायी थे उन्होने वैष्णव धर्म को राजधर्म बनाया तथा गरूड़ को अपना राज चिह्न बनाया। गुप्त शासक परम् भागवत् की उपाधि धारण करते थे। प्रयाग स्तम्भ लेख के विवरण से ज्ञात होता है कि गुप्त शासक के पत्रो के ऊपर गरूड़ की मुहर लगी होती थी। अनेक गुप्त सिक्को पर परमभागवत विरूद का अंकन प्राप्त होता है। गुप्त शासको ने विष्णु की उपासना के लिए अनेक मन्दिरो तथा मूर्तियो का निर्माण कराया।

गुप्त काल के पश्चात भी वैष्णव धर्म का विस्तार एवं विकास होता रहा। कन्नौज नृपति हर्षवर्धन के शासनकाल में शैव एवं बौद्ध धर्म के साथ वैष्णव धर्म भी लोकप्रिय था। बाणभट्ट के हर्षचरित में पॉचरात्र एवं भागवत सम्प्रदाय का उल्लेख है। राजपूतकाल में भी वैष्णव धर्म की लोकप्रियता बढ़ती रही। अनके राजपूत नरेश वैष्णव धर्मावलम्बी थे। राजपूत लेखो में 'ऊँ नमो भगवते वासुदेवाय' उत्कीर्ण प्राप्त होता है। चन्देल शासको ने भी खजुराहो में विष्णु मन्दिर का निर्माण करवाया। चेदि, परमार, पाल तथा से आलवर का अर्थ ज्ञान व्यक्ति से होता है। तमिल प्रदेश में वैष्णव धर्म का प्रचार–प्रसार इनके द्वारा ही हुआ। ये सातवी से दसवी शताब्दी के मध्य आये। प्रमुख आलवर संतो में तिरमंगई, पेरिय, अलवर, आण्डाल, नाम्मालवार आदि उल्लेखनीय है। इनकी संख्या 12 बताई जाती है। पोयगई, पूडम तथा पेय आरम्भिक आलवर सन्तो के रूप में जाने जाते है।

आलवर का अर्थ ज्ञान व्यक्ति से होता है। तमिल प्रदेश में वैष्णव धर्म का प्रचार–प्रसार इनके द्वारा ही हुआ। ये सातवी से दसवी शताब्दी के मध्य आये। प्रमुख आलवर संतो में तिरमंगई, पेरिय, अलवर, आण्डाल, नाम्मालवार आदि उल्लेखनीय है। इनकी संख्या 12 बताई जाती है। पोयगई, पूडम तथा पेय आरम्भिक आलवर सन्तो के रूप में जाने जाते है। जिन्होने संकीर्णता एवं साम्प्रदायिकता से रहित तथा सरलता से अपना भक्ति उपदेश दिया। इनके पश्चात तिरूमलिराई आलवर संत हुए। उन्होने अपने गीतो में जैन तथा बौद्ध धर्म का विरोध किया। आण्डाल कृष्ण भक्ति की। अन्तिम आलवार सन्तो में नाम्मलवार तथ उनके शिष्य मधुरकवि का नाम वर्णित है। मधुरकवि ने मोक्ष के लिए ज्ञान के स्थान पर विष्णु भक्ति को आवश्यक बताया।

अलवर सन्तो के अलावा आचार्यो ने तथा शास्त्रज्ञो ने भी वैष्णव धर्म का प्रचार–प्रसार किया। आचार्यो ने भक्ति को ज्ञान तथ कर्म से जोड़ा। प्रमुख आचार्यो ने नाथमुनि, आलबंदार अथवा यमुनाचार्य, रामानुजाचार्य तथा निम्बार्काचार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। नाथमुनि आचार्य परम्परा की गणना के आरम्भ में आते है जो श्रीरंगम मन्दिर की मूर्ति में प्रवेश कर ईश्वर में समाहित हो गये थे। दूसरे महान आचार्य के रूप में आलंबदार अथवा यामुनाचार्य प्रतिष्ठित है जिन्होने आगमो को वेदो के समकक्ष बताया। रामानुजाचार्य इस परम्परा के सर्वाधिक

अल्लेखनीय आचार्य है। आचार्य रामानुज ने श्रीरंगम में मठ की स्थापना की तथा ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा जो श्रीभाष्य के रूप में जाना जाता है। आचार्य रामानुज विशिष्टद्वैत मत के प्रवर्तक है।

शाक्त पंथ

शाक्त पंथानुयायी शक्ति का अपना ईष्ट मानकर उनकी उपासना करते है। दुर्गा को आदि शक्ति माना गया है तथा काली, भवानी, चामुण्डा, रूद्राणी, लक्ष्मी, सरस्वती आदि देवी भी शक्ति स्वरूपा मानी गयी है। शाक्त पंथ की प्राचीन प्राक ऐतिहासिक कास्य तक जाती है। शाक्त धर्म तथा शैव धर्म एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। सैन्धव सभ्यता तथा प्राक् सैंधव सभ्यता से देवी उपासना को सिद्ध करती है। ऋग्वेद में देवी ने स्वंय को देवताओ द्वारा किये जाने वाले सभी कार्यो का कारण बताते हुए सभी देवताओ में प्रधान बताया है। यह अपने भक्तो को धन सम्पदा प्रदान करने वाली कही गयी है।

अहं राष्ट्री संगभनी वसूनां चिकितुधी प्रथमा यज्ञियाराम्।

तां मां देत्या व्यदधुः पुरूत्रा भूरिस्थातां भूर्यावेशयन्तः।।

वेदो के अलावा पैराणिक ग्रंथो में भी देवी के माहात्म्य का वर्णन किया गया है। महाभारत में वर्णन है कि प्रातः काल में देवी की उपासना करने वाला व्यक्ति युद्ध मे ंविजय तथा लक्ष्मी को प्राप्त करता है।

य इमं पठते स्तोत्र कस्य उत्थाय मानवः।

संग्रामे विजयेन्नित्यं लक्ष्मी प्राप्नोति केवलाम्।।

महाभारत में युधिष्ठिर तथा अर्जुन द्वारा देवी की भक्ति का विशद वर्णन प्राप्त होता है। मार्कण्डेय पुराण देवी को सभी प्राणियो में विष्णु माया चेतना, बुद्धि, निद्रा, छाया, शक्ति, तृष्णा, क्षांति, लज्जा, जाति, शान्ति, श्रद्धा, कांति, लक्ष्मी, वृन्ति, स्मृति, दया, तुष्टि, मातृ रूप में संस्थित बताकर उनकी बारम्बार उपासना की गयी है। देवताओ ने उनसे अस्त्र प्राप्त किये तथा देवताओ की रक्षार्थ उन्होने असुरो का संहार किया। देवी को उपासना सौम्य रूप, प्रचण्ड रूप तथा कामप्रधान रूप में की जाती है। देवी के सौम्य रूप में पार्वती, लक्ष्मी, उमा आदि की आराधना की जाती है। देवी के उग्र रूप के अन्तर्गत चण्डी, कपाली, दुर्गा, भैरवी आदि की आराधना की जाती है। काम प्रधान देवी के रूप में त्रिपुर सुन्दरी, भैरवी, ललिता देवी कामाख्या देवी की अराधना की जाती है।

मौद्रिक साक्ष्यो से सुचना मिलती है कि देवी की मूर्तियो के निर्माण का आरम्भ पहली शताब्दी ई0 तक आरम्भ हो चुका था। गुप्त काल में तथा देवी मन्दिरो का निर्माण बड़े पैमाने पर हुआ। हर्षचरित में भी देवी दुर्गा के पूजा का वर्णन प्राप्त होता है। पूर्व मध्यकाल में देश के विभिन्न भागो में शासको ने देवी मूर्तियो का निर्माण कराया तथा लेख उत्कीर्ण कराये।

पूर्व मध्यकाल में शाक्त पंथ तंत्र के प्रभाव से प्रभावित हो चुका था। जिससे समाज में अंधविश्वास बढ़ा। इसी विचारधारा ने भक्ति आन्दोलन के लिए एक मार्ग प्रशस्त किया जिसमें अनेक संतो का उदय हुआ। कश्मीर कॉची तथा असम को शक्ति उपासना का प्रमुख केन्द्र माना जात है। शाक्त उपासक कुण्डालिनी को सर्वाधिक महत्व देते है।

5.6 सारांश

भक्ति की उत्पत्ति भ के सन्दर्भ यह कथन अधिक उपयुक्त है कि यह सनातन जन धर्म है। जिसको प्रपन्ति हमे भागवत में दृष्टिगोचर होती है। भक्ति साधारण जनो से ज्ञानी जन और फिर यह सर्वव्यापी हो गयी। वेद, पुराण, महाकाव्य आदि मे ंवर्णित बातो को संतो एवं भक्तो ने लोक भाषा में जन जन तक पहुॅचाने का कार्य किया जिसमें आलवर तथा नयनार संत प्रमुख रूप से उल्लेखनीय है। कालान्तर में रामानुजाचार्य कबीर, नानक, वल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु, नामदेव, तुकाराम, रैदास, दाइ दयाल, मीराबाई, सूरदास, तुलसीदास आदि ने भक्ति का व्यापक स्तर पर प्रचार–प्रसार किया तथा समाजिक कुरीतियो पर चोट किया।

5.7 सन्दर्भ ग्रंथ सूची एवं सहयोगी पाठ्य पुस्तक

- ऋग्वेद
- यजुर्वेद
- सामवेद
- अथर्ववेद
- मार्कण्डेय पुराण
- महाभारत
- रामायण
- दूबे,एच०एन०–भारतीय संस्कृति शारदा पुस्तक भवन 2018–19
- कौशाम्बी, डी० डी० मिथ एण्ड रियालिटी
- दूबे, एच० एन० भारत की प्रारम्भिक संस्कृतियां एवं सभ्यता
- श्रीवास्तव, के०सी० भारत की संस्कृति इलाहाबाद 2018–19
-

5.8 निबन्धात्मक प्रश्न

5. भक्ति की उत्पत्ति पर निबन्ध लिखिए।
6. भक्ति के क्रमिक विकास पर टिप्पणी कीजिए।
7. भक्ति पंथ के विकास पर निबन्ध लिखिए।

इकाई – 6 वैष्णव धर्म की उत्पत्ति एवं विकास अवतारवाद का सिद्धान्त
भागवत एवं पांचरात्र

इकाई की रूपरेखा

6.0 प्रस्तावाना

6.1 उद्देश्य

6.2 वैष्णव धर्म का उद्भव एवं विकास

6.3 चत्व्र्यूह

6.4 अवतारवाद का सिद्धान्त

6.5 सारांश

6.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

6.7 सहयोगी पाठ्य पुस्तक

6.8 निबन्धात्मक प्रश्न

6.0 प्रस्तावना

पद्म पुराण के अनुसार विष्णु के अनुयायियों को भागवत अथवा वैष्णव कहा जाता है। (सर्व देवान्परित्यज्य नित्यं भगवदाश्रयः। रतस्तदीयसेवायाः स भागवत उच्यते'') भागवत् धर्म को अनेक नामों से जाना जाता है, यथा– सात्वत्, पांचरात्र, वासुदेव, एकांतिक आदि। भागवत धर्म में मुख्य रुप से कृष्ण के भक्त उन्हें 'भागवत्' मानते हैं। कृष्ण के लिये भगवत् या भगवान् का सम्बोधन उनके भक्तों द्वारा किया जाता है। कृष्ण को विष्णु का अवतार माना गया है तथा महाभारत में कृष्ण और विष्णु का समीकरण प्राप्त होता है। इस प्रकार महाभारत काल में वैष्णव धर्म और भागवत धर्म का विलय हो गया।

6.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से पश्चात् आप

- वैष्णव धर्म के उद्भव एवं उनमें होने वाले परिवर्तन के परिचित होंगे।
- वैष्णव धर्म के विकास के चरण को जान सकेंगे।
- वैष्णव धर्म का अन्य धर्मों के समीकरण को जान सकेंगे।
- वैष्णव धर्म के सिद्धान्त से परिचित हो सकेंगे।
- विभिन्न शासन काल में वैष्णव धर्म के सामाजिक प्रयास को जान सकेंगे।

6.2 वैष्णव धर्म का उद्भव एवं विकास

वैष्णव धर्म में प्रमुख रूप से कृष्ण की उपासना होती है। वैष्णव धर्म का विकास भागवत धर्म से माना जाता है। कृष्ण का प्रथम उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद में घोर अंगरिस ऋषि के शिष्य के रूप में हुआ है तथा इसी ग्रंथ में कृष्ण को देवकी पुत्र कहा गया है। ऋग्वेद में कृष्ण का निवास–स्थल अंशुमती नदी का तट बताया जाता है। कुछ विद्वानों ने अंशुमती नदी का तादात्य यमुना नदी से और ऋग्वैदिक कृष्ण का तादाम्य वासुदेव कृष्ण से स्थापित करते हैं। डी0सी0 सरकार प्रभृति विद्वानों ने इसकी सम्भावना पर विशेष बल दिया है। आर0जी0 भण्डारकर प्रभृति विद्वान वासुदेव कृष्ण को वासुदेव के गोत्र के रूप में सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। उनके अनुसार कृष्ण नाम 'कार्षणायन' गोत्र के आधार पर रखा गया है तथा वासुदेव उनका मूल नाम था अतः उन्हें वासुदेव कृष्ण कहा गया है। कालान्तर में कृष्ण को वृष्णि कुल से सम्बद्ध किया गया जिसका उल्लेख उत्तर वैदिक साहित्य में प्राप्त होता है यह वासुदेव की शाखा थी, इसका मूल कुल 'यदुवंश' है जिसका उल्लेख हमें ऋग्वेद से प्राप्त होता है। यदु जन की नौ शाखाओं का विकास हुआ जिसमें सात्वत् अंधक वृष्णि आदि थे। इसी कुल में कृष्ण का जन्म माना जाता है। कृष्ण की उपासना बाद में विष्णु के अवतार के रूप में की जाने लगी।

पद्मपुराण के अनुसार, विष्णु के अनुयायियों को भागवत् या वैष्णव कहा जाता है।

सर्व देवान्परित्यज्य नित्यं भगवषाश्रयः।

रतस्तदीयसेवायाः स भागवत उच्यते।।

भागवत धर्म को सात्वत्, पांचरात्र, वासुदेव एवं एकांतिक आदि नामों से भी जाना जाता है। भक्तों द्वारा कृष्ण के लिये 'भगवत्' एवं 'भगवान्' आदि सम्बोधनों के कारण यह भागवत धर्म कहलाया। गुप्त काल से पूर्व यह धर्म तीन शाखाओं में विभाजित था। पहली शाखा वैदिक विष्णु के उपासकों की थी, दूसरी शाखा के अन्तर्गत ब्राह्मण एवं संहिताओं में वर्णित नारायण की उपासना की जाती थी तथा तीसरी शाखा में ऐतिहास काल में लोकप्रिय वासुदेव कृष्ण की उपासना की जाती थी। गुप्तकाल के पूर्व इन तीनों शाखाओं का विलय वैष्णव धर्म में हो गया। वैष्णव धर्म के आराध्य देव विष्णु हैं तथा जैसा कि पूर्व में भी बताया गया है, वासुदेव कृष्ण को विष्णु का अवतार माना गया है। महाभारत काल में भागवत धर्म एवं वैष्णव धर्म का विलय हो जाता है। महाभारत में युधिष्ठिर द्वारा कृष्ण की पूजा सर्वश्रेष्ठ पुरूष के रूप में होने का उल्लेख प्राप्त होता है तथा उन्हें अचिन्त्यगतिरीश्वर एवं योगीश्वर कहा गया है।

आचार्य क्षिति मोहन सेन की मान्यता है कि वैष्णव धर्म की उत्पत्ति सम्भवतः प्राग्वैदिक परम्परा से हुई है। विष्णु सूर्य के क्रियाशील रूप का प्रतिनिधित्व करते हैं। विष्णु का वर्ण श्याम है। विष्णु का महत्व ऋषि भृगु द्वारा पदाघात कर आर्यों का पूज्य घोषित करने से तथा सम्पूर्ण जगत को तीन पगों से भाप लेने पर बढ़ा। कृष्ण की महत्ता गोवर्धन पर्वत धारण कर इन्द्रपूजा के विरोध के कारण बढ़ी। कुछ विद्वान विष्णु को वैदिक देवता स्वीकारते है। ऋग्वेद में विष्णु पर अलग सुक्त संकलित है–

''तदस्य प्रियमाभि पाथो अस्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति।

उरूक्रमस्य स हि बन्धुरित्या विष्णोः परमे पदे मरव उत्सः।''

विष्णु को उपेन्द्र, इन्द्रावरज, उरूगाय, उरूक्रम आदि सम्बोधनों से अभिहित किया गया है। विष्णु को अमृत का स्त्रोत बताया गया है। शतपथ ब्राह्मण से प्राप्त विवरणों के अनुसार विष्णु देवताओं के युद्ध में सबसे शक्तिशाली देव बने तथा उन्हें सर्वाधिक प्रसिद्ध घोषित किया गया। यज्ञों के प्रतिरूप में भी उनको प्रतिष्ठित किया गया।

ऐतरेय ब्राह्मण में विष्णु को सर्वोच्च देवता के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। महाभारत में विष्णु को तथा उनके अवतारों का विवरण प्राप्त होता है। इसी समय भागवत धर्म का वैष्णव धर्म में विलय हो जाता है। पतंजलि के विवरणानुसार वासुदेव विष्णु के रूप में तथा पाणिनी ने अष्टाध्यायी में 'वासुदेव कृष्ण' की स्वतंत्र पूजी की ओर संकेत किया है।

विष्णु पुराणानुसार, विष्णु के तेज से सूर्य का सम्पूर्ण मण्डल प्रकाशित होता है। विष्णु पुराण में ही वर्णन है कि विष्णु सर्वत्र है तथा उसमें सभी का वास है अतः वे वासुदेव है (सर्वत्रासां समस्तं च वसत्यंत्रति वै यतः। ततः स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपह्यते।।) विष्णु पुराणानुसार विष्णु की आराधना सूर्य के द्वारा की जाती थी।

रामगोपाल भण्डारकर महोदय वैष्णव धर्म को मूल रूप से तीन तत्वों के योग से उत्पन्न मानते है। पहला तत्व ऋग्वेद में उल्लिखित विष्णु नाम दूसरा तत्व महाभारत के शान्तिपर्व के नारायणी उपाख्यान में वर्णित नारायण

धर्म तथा तीसरा तत्व महाभारतकालीन वासुदेव मत है। वैष्णव धर्म में गोपिका, राधिका एवं ग्वाल–बाल की कहानियाँ कालान्तर में जुड़ी।

कृष्ण और विष्णु का नारायण से तादात्म्य होने के पश्चात् पाञ्चरात्र धर्म का विकास हुआ, जिसका भी विकसित स्वरूप कालान्तर में वैष्णव धर्म में परिणत हो गया। नारद को पाञ्चरात्र धर्म का प्रवर्तक माना जाता है तथा इस धर्म के परम् आराध्य देव नारायण है। पुराणों में नारायण और नर के बदरीनाथ में रहने तथा नारद द्वारा वहीं रहकर उनकी उपासना का उल्लेख है। इन्हीं नर और नारायण का अर्जुन एवं कृष्ण के रूप में अवतरित होने का विवरण शास्त्रों से प्राप्त होता है। विद्वानों ने पाञ्चरात्र धर्म के भागवत धर्म में परिणत होने का कालानुमान द्वितीय से तृतीय शताब्दी के आगमन के आस–पास लगाया है तथा वासुदेव एवं भागवत धर्म की प्राचीनता के सन्दर्भ में विद्वानों का मत ईसा पूर्व चौथी, पाँचवी शताब्दी तक जाता है।

महर्षि पाणिनी ने अपनी कृति 'अष्टाध्यायी' में वासुदेव की पूजा तथा कृष्ण तथ अर्जुन का उल्लेख किया है। उन्होंने 'वासुदेवार्जुनाभ्यास बुन्' सूत्र में वासुदेव की उपासना करने वाले को 'वासुदेवक' तथा अर्जुन के प्रति आस्था भाव रखने वालों को 'अर्जुनक' की संज्ञा प्रदान की है। मेगस्थनीज के 'हेराक्लीज' का तादास्म्य वासुदेव कृष्ण से है, वह अपने विवरण में तत्कालीन समाज में कृष्ण पूजा की लोकप्रियता का उल्लेख करता है। महानारायण उपनिषद में कृष्ण को विष्णु के अवतार के रूप में पूजे जाने का उल्लेख है। पतंजलि ने अपनी कृति महाभाष्य में वासुदेव की पूजा का वर्णन किया है। सिकन्दर के समकालीन यूनानी लेखकों के विवरण हमें पोरस की सेना द्वारा युद्ध के समय हेरोक्लीज की मूर्ति सामने रखने की जानकारी देते है। बेसनगर अभिलेख के विवरण से ज्ञात होता है कि हेलियोडोरस ने वासुदेव की उपासना हेतु गरूड़ध्वज के रूप में एक प्रस्तर स्तम्भलेख की स्थापना करवाई जिसमें वासुदेव को 'देवाधिदेव' कहा गया है। वे अपने समाज के उद्धारकर्त्ता तथा भूमि, फसल एवं पशु आदि से प्रेम करने वाले थे। कृष्ण की प्रेमकथाओं का विवरण प्रारम्भिक ग्रन्थों में प्राप्त नहीं होता है इन्हें बाद में जोड़ा गया। दामोदर दास कोसम्बी की मान्यता है कि जिस तरह शकों के पतनकाल में शिव का लिंग के रूप में रुपान्तरण हो गया उसी प्रकार गुप्तों के पतन के पश्चात् कृष्ण का रूपान्तरण प्रेमी तथा रसिक गोपालकृष्ण के रूप में हुआ।

वैष्णव धर्म का प्रसार मथुरा की सीमा से बाहर भारत के अन्य भू–भागों में भी होने लगा। भागवत धर्म की लोकप्रियता मौर्य काल में विशेष नहीं थी क्योंकि अशोक के अभिलेख में इसका वर्णन नहीं प्राप्त होता है परन्तु मौर्यों के पश्चात् शासकों के काल में इस धर्म की लोकप्रियता में वृद्धि होने लगती है। साहित्यिक प्रमाणों के साथ–साथ पुरातात्विक प्रमाण भी इस लोकप्रियता की पुष्टि करते हैं। विदिशा के गरूड़–स्तम्भ लेख से तक्षशिला के यवन राजदूत हेलियोडोरस के भागवत धर्मग्रहण करने की तथा गरूड़ स्तम्भ को स्थापित कराकर पूजन करने का उल्लेख प्राप्त होता है। इस लेख में हेलियोडोरस को 'भागवत' कहा गया है तथा वासुदेव के लिए 'वासुदेवस्' उत्कीर्ण है।

अपोलोडोटस द्वारा चलाये गये सिक्कों पर भागवत धर्म से सम्बन्धित चिह्नों का अंकन मिलता है। यवनों ने अपने प्रसार के साथ–साथ उत्तर–पश्चिम से मध्य देश इत्यादि भूभागों में वैष्णव धर्म को फैलाया। ईसा पूर्व

प्रथम शताब्दी तक इस धर्म का व्यापक प्रचार प्रसार दृष्टिगोचर होता है। ईसा पूर्व प्रथम शदी का राजस्थान के घोसुन्द्री से प्राप्त अभिलेख में एक अनुयायी द्वारा विष्णु की उपासना हेतु शिला प्रकार बनाने का वर्णन राजस्थान में उस समय तक वैष्णव धर्म की लोकप्रियता की पुष्टि करता है। इसी काल के महाराष्ट्र के नानाघाट से प्राप्त अभिलेख में वासुदेव एवं संकर्षण के पूजन की लोकप्रियता का वर्णन महाराष्ट्र में वैष्णव धर्म के प्रसर एवं लोकप्रियता की पुष्टि करता है। कुषाण काल तक इस धर्म का प्रसार व्यापक हो चुका था। कुषाण काल में निर्मित अनेक विष्णु मूर्तियाँ प्रकाश में आई हैं। कुषाण नरेश दुविष्क वैष्णव मतानुयायी था। शिवपुरी जनपद के टुण्डाभर खोह अभिलेख से मथुरा परिक्षेत्र में पंचवीरोपासना की लोकप्रियता का वर्णन मिलता है। पंचवीरों का वर्णन वायु पुराण में मिलता है ये थे– संकर्षण, वासुदेव, पद्युम्न, साम्ब और अनिरूद्व। कालान्तर में इन्हें पांचरात्र सम्प्रदाय में सम्मिलित किया गया।

गुप्त काल (320ई0 – 550ई0) वैष्णव धर्म के चरमोत्कर्ष का काल माना जाता है। गुप्त शासकों में अधिकांश वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। उन्होंने वैष्णव धर्म को राजधर्म बनाया तथा गरूड़ को अपना राज चिह्न बनाया। गुप्त शासक 'परम् भागवत्' की उपाधि धारण करते थे। प्रयाग स्तम्भ लेख के विवरण से ज्ञात होता है कि गुप्त शासक के पत्रों के ऊपर गरूड़ की मुहर लगी होती थी। अनेक गुप्त सिक्कों पर 'परमभागवत्' विरूद का अंकन प्राप्त होता है। गुप्त शासकों ने विष्णु की उपासना के लिए अनेक मन्दिरों तथा मूर्तियों का निर्माण कराया।

महरौली लेख से ज्ञात होता है कि राजा चन्द्र ने विष्णु पर्वत पर विजय कर विष्णु ध्वज निर्मित करवाया था। (पांशुविपष्णुपदे गिरौ भगवतो विष्णोध्वजः स्थापितः) उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जनपद के भितरी नामक पुरास्थल से स्कन्दगुप्त कालीन शार्ङिन् (विष्णु) की मूर्ति स्थापना का उल्लेख मिलता है। जूनागढ़ अभिलेख में सुदर्शन झील के किनारे महाराज चक्रपालित द्वारा विष्णु मूर्ति स्थापित कराने का वर्णन है। उदयगिरि, तिगवां (जबलपुर), देवगढ़ (झांसी), खोह, मथुरा आदि अनेक स्थलों से गुप्तकाल में निर्मित विष्णु की मूर्तियों तथा मन्दिरों के अवशेष प्राप्त हुए है। देवगढ़ की मूर्ति में विष्णु को शेष शैय्या पर विश्राम करते हुए प्रदर्शित किया गया है। गुप्तकाल में कोशकार अमर सिंह ने अपने ग्रंथ अमरकोष में विष्णु के 39 नामों का वर्णन किया है।

गुप्त काल के पश्चात् भी वैष्णव धर्म का विस्तार एवं विकास होता रहा। कन्नौज नृपति हर्षवर्धन के शासनकाल में शैव एवं बौद्ध धर्म के साथ वैष्णव धर्म भी लोकप्रिय था। बाणभट्ट के हर्षचरित मे पाँचरात्र एवं भागवत सम्प्रदाय का उल्लेख है। राजपूतकाल में भी वैष्णव धर्म की लोकप्रियता बढ़ती रही। अनेक राजपूत नरेश वैष्णव धर्मावलम्बी थे। राजपूत लेखों में 'ऊँ नमो भगवते वासुदेवाय' उत्कीर्ण प्राप्त होता है। चन्देल शसकों ने भी खजुराहों में विष्णु मन्दिर का निर्माण करवाया। चेदि, परमार, पाल तथा से नृपतियों के शासन काल में अनेक विष्णु मन्दिरों तथा मूर्तियों का निर्माण हुआ। इस काल में चतुर्भुज विष्णु, लक्ष्मी विष्णु तथ विष्णु के दशावतरों की मूर्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। कहीं कहीं विष्णु का अंकन गरूड़ के साथ भी हुआ है।

वैष्णव धर्म का प्रसार उत्तर भारत की सीमा तक सीमित नहीं था। दक्षिण भारत में भी इसका प्रसार दृष्टिगोचर होता है। संगम साहित्य के विवरणों से ज्ञात होता है कि प्रथम शताब्दी ई0पू0 में वैष्णव धर्म तमिल प्रदेश का प्रमुख धर्म था। दक्षिण भारत के अनेक राजवंशो ने वैष्णव धर्म को धारण किया था, दक्षिण भारतीय

भू–भाग से भी विष्णु के अनेक मूर्तियाँ तथा मन्दिर प्राप्त होते है। वेंगी के चालुक्य नृपतियों ने वैष्णव धर्म को धारण किया था तथा गरूड़ को अपना राज चिह्न बनाया था। तमिल तथा आन्ध्र प्रदेश के क्षेत्र में वाराह विष्णु की उपासना पर बल दिया गया। यद्यपि राष्ट्रकूट नरेश जैनमतावलम्बी थे तथापि उनके काल में भी वैष्णव धर्म का विकास हुआ। राष्ट्रकूट नरेश दन्तिदुर्ग ने ऐलोरा में प्रसिद्ध विष्णु के दशावतार मन्दिर का निर्माण कराया। कई पल्लव शासकों ने अलवर सन्तों तथा आचार्यों के प्रभाव में वैष्णव धर्म का धारण किया तथा उसे राजधर्म के रूप में प्रतिष्ठित किया। पल्लव शासक सिंहविष्णु ने आदि वाराह मण्डप तथा नरसिंह वर्मन द्वितीय ने काँची के वैकुण्ठपेरिमल मन्दिर का निर्माण कराया। दन्तिवर्मा के लेखों में उसे विष्णु का अवतार बताया गया है। दन्तिवर्मा भी वैष्णव धर्मानुयायी था। कुछ वातापी के चालुक्य सम्राटों ने भी परम् भागवत् की उपाधि धारण की तथा ऐहोल नगर में विष्णु मन्दिरों का निर्माण करवाया। चोल शासकों के काल में शैव धर्म की प्रगति के साथ वैष्णव धर्म की भी प्रगति हुई। आचार्यों ने वैष्णव धर्म का प्रचार–प्रसार तमिल तथा संस्कृत दोनों भाषाओं में किया। इस काल में आचार्यों ने भक्ति को ज्ञान तथ कर्म से जोड़वर अनेक ग्रंथों की रचना की। आचार्य परम्परा के प्रथम आचार्य नाथमुनि को माना जाता है।

आलवर का अर्थ 'ज्ञान व्यक्ति' से होता है। तमिल प्रदेश में वैष्णव धर्म का प्रचार–प्रसार इनके द्वारा ही हुआ। ये सातवीं से दसवीं शताब्दी के मध्य आये। प्रमुख आलवर संतो में तिरमंगई, पेरिय, अलवर, आण्डाल, नाम्मालवार आदि उल्लेखनीय है। इनकी संख्या 12 बताई जाती है। पोयगई, पूडम तथा पेय आरम्भिक आलवर सन्तों के रूप में जाने जाते हैं जिन्होंने संकीर्णता एवं साम्प्रदायिकता से रहित तथा सरलता से अपना भक्ति उपदेश दिया। इनके पश्चात् तिरूमलिराई आलवर संत हुए। उन्होंने अपने गीतों में जैन तथा बौद्ध धर्म का विरोध किया। आण्डाल कृष्ण भक्ति की। अन्तिम आलवार सन्तों में नाम्मलवार तथ उनके शिष्य मधुरकवि का नाम वर्णित है। मधुरकवि ने मोक्ष के लिए ज्ञान के स्थान पर विष्णु भक्ति को आवश्यक बताया।

अलवर सन्तों के अलावा आचार्यों ने तथा शास्त्रज्ञों ने भी वैष्णव धर्म का प्रचार–प्रसार किया। आचार्यों ने भक्ति को ज्ञान तथ कर्म से जोड़ा। प्रमुख आचार्यों ने नाथमुनि, आलबंदार अथवा यमुनाचार्य, रामानुजाचार्य तथा निम्बार्काचार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। नाथमुनि आचार्य परम्परा की गणना के आरम्भ में आते हैं जो श्रीरंगम् मन्दिर की मूर्ति में प्रवेश कर ईश्वर में समाहित हो गये थे। दूसरे महान आचार्य के रूप में आलंबदार अथवा यामुनाचार्य प्रतिष्ठित है जिन्होंने आगमों को वेदों के समकक्ष बताया। रामानुजाचार्य इस परम्परा के सर्वाधिक अल्लेखनीय आचार्य हैं। आचार्य रामानुज ने श्रीरंगम् में मठ की स्थापना की तथा ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा जो 'श्रीभाष्य' के रूप में जाना जाता है। आचार्य रामानुज विशिष्टद्वैत मत के प्रवर्तक हैं।

6.3 चतुर्व्यूह

लगभग दूसरी शताब्दी ईस्वी में भागवत धर्म एवं पाँचरात्र धर्म का समीकरण हो गया। इस समीकरण में भागवत धर्म के ईश्वर के 'पर' रूप की कल्पना की गई एवं विष्णु को सर्वोच्च ईश्वर के रूप में स्थापित किया गया। परिणामस्वरूप 'पर' ईश्वर के व्यूह, कार्य, विभव या अन्तर्यामी स्वरूप मान्य हुए। इस रूप में ईश्वर की मान्यता कारणों के मूल कारण में हुई तथा उसी रूप में सबको समाहित समझा गया। वह शान्ति को प्रेरित करता

है तथा 'भूति' एवं 'क्रियाशक्ति' द्वारा शक्ति इस इच्छा को आत्मसात् करती है। परिणामतः 'पर' के प्रेरणा द्वारा शक्ति निश्चेष्ट अथवा सचेष्ट रूप ग्रहण करती है और इच्छाशक्ति, मूर्तिशक्ति एवं क्रियाशक्ति द्वारा गुण को जन्म देती है। ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजस ये गुण के रूप में वर्णित है। व्यूह का निर्माण इन गुणों के सामजस्य रूप से होता है। इनका विभाजन दो वर्गों में हुआ है। प्रथम वर्ग ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति और द्वितीय वर्ग में बल, वीर्य तथा तेजस को रखा गया है।

इसमें ज्ञान एवं बल, ऐश्वर्य एवं वीर्य तथा शक्ति एवं तेजस के समीकरण द्वारा चतुर्व्यूह की परिकल्पना की गई है।

वासुदेव व्यूह में छः गुण उपस्थित माने गये हैं। जिसमें से ज्ञान और बल का युग्म संकर्षण व्यूह का ऐश्वर्य एवं वीर्य का युग्म प्रद्युम्न व्यूह का तथा शक्ति एवं तेजस का व्यूह अनिरूद्ध व्यूह के उद्भव का कारक है। चतुर्व्यूह की अवधारणा की उत्पत्ति सम्भवतः द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व में ही हो चुकी थी।

पाँचरात्र तथा भागवत धर्म के अन्तर्गत चतुर्व्यूह में वासुदेव कृष्ण के पूजन के साथ निम्न देवताओं के पूजन को लोकप्रियता मिली

(1) **संकर्षण** –ये वासुदेव एवं रोहिणी से उत्पन्न पुत्र थे।

(2) **प्रद्युम्न**–ये श्री कृष्ण एवं रूक्मिणी से उत्पन्न पुत्र थे।

(3) **साम्ब**–ये वासुदेव कृष्ण एवं जाम्बवती से उत्पन्न पुत्र थे।

(4) **अनिरूद्ध** –ये प्रद्युम्न के पुत्र थे।

इनका विशद वर्णन महाभारत के नारायणीय खण्ड में प्राप्त होता है। भागवत धर्मावलम्बी कृष्ण की भाँति ही इन चारों का पूजन करते थे। विद्वानों का अनुमान है कि कृष्ण के समान इन चारों ने भी अपने मत का प्रतिपादन किया होगा तथा धर्माचार्यों द्वार इन पर देवत्व मढ़ दिया होगा। श्रीमदभावद्गीता में विभव के वास्तविक स्वरूप का वर्णन प्राप्त होता है।

6.4 वैष्णव धर्म के सिद्धान्त

वैष्णव धर्म में भक्ति मार्ग द्वारा मोक्षप्राप्ति को सम्भव बताया गया है। ईश्वर द्वारा भक्त को अपनी शरण में लेने जाने का मार्ग भक्ति है। श्रीमद्भागवद्गीता में ज्ञान, कर्म तथा भक्ति के समन्वय से भक्ति द्वारा मुक्ति की बात कही गयी है। श्री कृष्ण गीता में कहते हैं कि सभी धर्मों को छोड़कर एकमात्र मेरी शरण में आओं, मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त करूँगा।

6.4.1 अवतारवाद का सिद्धांत

श्रीमद्भागवदगीता के अनुसार,

> यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
> अभ्युत्थान धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।
> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दृष्कृताम्।
> धर्मसन्थापनार्थाय संभवामि युगे–युगे।।

इस श्लोक में विष्णु के विभिन्न अवतारों के तात्विक सिद्धांत की व्याख्या की गयी है। भागवत धर्म में विष्णु के बाइस अवतारों का उल्लेख है तथा पाँचरात्र संहिताओं में मूल तथा गौण अवतारों का योग उन्तालीस है। परन्तु अठारह पुराणों में विष्णु के दशावतारों को मान्यता दी गयी है जिनका विवरण इस प्रकार है –

(1) मत्स्य –पृथ्वी के महान जल प्लावन से भयभित होने पर विष्णु के मत्स्य अवतार लिया था। उन्होंने मनु तथा मनु के परिवार की सात ऋषियों के साथ रक्षा की। विष्णु ने मत्स्यावतार धारण कर वेदों की भी रक्षा की।

(2) कूर्म/कच्छप –समुद्र मन्थन के समय विष्णु के कच्छपावतार धारण कर समुद्रतल में प्रवेश किया। देवताओं ने उनकी पीठ पर मदरान्चल पर्वत रख नागवासुकी को डोरी बनाकर समुद्र मंथन किया। फलतः अमृत, लक्ष्मी समेत कुल चौदह रत्नों की प्राप्ति हुई।

(3) वाराह – पृथ्वी को विश्व सिन्धु के तल से यथास्थान वापस रखने के लिए विष्णु वाराह रूप में अवतरित हुए। कथानुसार हिरण्याक्ष नामक राक्षस ने पृथ्वी को विश्वसिन्धु तल में छिपा दिया था। वाराह रूप धारण कर उन्होंने हिरण्याक्ष का वध कर अपने दांतों से उठाकर पृथ्वी को यथास्थान रखा।

(4) नृसिंह –प्राचीन काल में हिरण्यकश्यप नामक असुर ने ब्रह्मा से न दिन में, न रात में, न देवता द्वारा, न मनुष्य द्वारा, न घर में, न बाह्य मृत्यु का वरदान प्राप्त किया था। उसके पुत्र प्रह्लाद की पुकार सुन विष्णु ने नृसिंह का अवतार धारण गोधुलि बेला में हिरण्यकश्यप का संहार किया।

(5) वामन – बलि नामक दानी राक्षस की शक्ति से भयभीत होकर देवताओं ने विष्णु से प्रार्थना की। देवताओं के विष्णु ने वामनावतार धारण कर तीन पग भूमि की माँग की। बलि की स्वीकृति के पश्चात् उन्होंने दो पग में नभ एवं धरा को नाप लिया। तीसरा पग नहीं उठाया तथा पाताल बलि के छोड़ दिया।

(6) परशुराम – परशुराम जगदग्नि के पुत्र थे। वे परशु धारण करते थे। वे क्रोधी तथा तपस्वी थे। विष्णु के ही रामावतार के काल में उनका गर्व चूर्ण हुआ।

(7) राम – उत्तर भारत में सर्वाधिक लोकप्रिय अयोध्या में दशरथनन्दन के रूप में विष्णु ने रामावतार लिया था। पुरूषोत्तम कहे जाने वाले राम ने लंका के रावण का संहार किया था।

(8) कृष्ण –कंस के अत्याचारों से प्रजा की रक्षा के लिए देवकी के गर्भ से वासुदेच पुत्र कृष्ण ने मथुरा के कारागार में विष्णु ने कृष्णावतार लिया। इनकी अनेक लीलाओं का वर्णन है। महाभारत के युद्ध में इन्होंने अर्जुन को ज्ञान दिया।

(9) बुद्ध – दया एवं मानवता के विकास के लिये विष्णु ने बुद्धावतार लिया। हिन्दुओं ने बाद में बुद्ध को देवता के रूप में स्थान दिया तथा पूजन आरम्भ किया।

(10) कल्कि – कल्कि भविष्य में होने वाले विष्णु के अवतार है जो कलियुग के अन्त में श्वेत अश्व पर अवतरित होंगे। उनका अवतार धरती को दुष्ट रहित करने के लिए होगा।

6.5 सारांश

प्राग्वैदिक काल से अद्यतन विभिन्न रूपों में विष्णु उपास्य देवता के रूप में प्रतिष्ठित हैं जिनकी प्रतिष्ठा में वैदिकोत्तर काल से निरन्तर वृद्धि हुई है। उत्तर भारत तथा दक्षिण भारत में अनेक शासकों ने वैष्णव धर्म को अपनाया तथा वैष्णव धर्म को राजधर्म घोषित किया। राम कृष्ण जैसे प्रतीक आज भी राजनीतिक सामाजिक भावनाओं के केन्द्र में है। राम तथा कृष्ण की उपासना के प्रतीक दशहरा, दीवाली, जन्माष्टमी त्यौहार हर्षोल्लास के साथ मनाये जाते है। प्राचीन काल में विष्णु तथा कृष्ण के पश्चात् मध्यकाल में राम की लोकप्रियता में अत्यन्त वृद्धि हुई। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस की रचना की। रामभक्ति शाखा तथा कृष्णभक्ति शाखा का भी विकास हुआ।

6.6 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

- ऋग्वेद
- पद्म पुराण
- विष्णु पुराण
- अग्नि पुराण
- वायु पुराण
- नारद पुराण

6.7 सहयोगी पाठ्य पुस्तक

- भारत की प्रारम्भिक संस्कृतियाँ एवं सभ्यताएँ—एच.एन. दूबे
- प्राचीन भारत की इतिहास तथा संस्कृति—के.सी. श्रीवास्तव

6.8 निबन्धात्मक प्रश्न

(1) वैष्णव धर्म के विभिन्न रूपों पर प्रकाश डालने हुए विष्णु तथा कृष्ण के सम्बन्ध की व्याख्या कीजिए।

(2) पुरातात्विक साक्ष्यों के आलोक में वैष्णव धर्म के विस्तार पर प्रकाश डालिए।

(3) दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म के विकास पर प्रकाश डालते हुए आलवर एवं आचार्यों के वैष्णव धर्म के विस्तार हेतु योगदान की व्याख्या कीजिए।

(4) विष्णु के दशावतारों की व्याख्या करते हुए राम तथ कृष्ण की लोकप्रियता के कारणों को स्पष्ट करें।

इकाई – 7 शैव धर्म–उत्पत्ति एवं विकास–सम्प्रदाय–लिंगायत एवं पाशुपत

इकाई की रूपरेखा

7.0 प्रस्तावना

7.1 उद्देश्य

7.2 शैव धर्म की उत्पत्ति एवं विकास

7.3 शैव धर्म के प्रमुख सम्प्रदाय

7.3.1 पाशुपत सम्प्रदाय

7.3.2 लिंगायत सम्प्रदाय

7.4 सारांश

7.5 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

7.6 उपयोगी पाठ्य पुस्तकें

7.7 निबन्धात्मक प्रश्न

7.0 प्रस्तावना

हिन्दू धर्म में प्रचलित त्रिदेवों में शिव का महत्वपूर्ण स्थान है। शिव से सम्बद्ध होने के कारण यह धर्म 'शैव धर्म' कहलाया तथा शिव के उपासकों को 'शैव' की संज्ञा प्रदान की गयी। मोहनजोदड़ों के उत्खनन से प्राप्त एक मुहर पर विभिन्न पशुओं से घिरे हुए सींगधारी पद्मासन में बैठे योगी को पुरातत्वेत्ता मार्शल महोदय ने शिव के रूप में स्थापित किया है। ऋग्वेद में शिव को रुद्र के रूप में वर्णित किया गया है। शिव के महत्व में निरन्तर वृद्धि दृष्टिगोचर होती है। ऐतिहासिक स्थलों से प्राप्त शिवलिंग इस बात का द्योतक है कि शिव का पूजन प्राचीनकाल से होता चला आ रहा है।

7.1 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप

- शैव धर्म के उद्भव एवं विकास के चरणों को समझ सकेंगे।
- शैव धर्म के सम्प्रदायों के विकास के कारणों को जान सकेंगे।
- विभिन्न ग्रन्थों में शिव के स्थान से परिचित हो सकेंगे।
- शिव के बढ़ते राजनीतिक एवं सांस्कृतिक प्रभावों से परिचित हो सकेंगे।

7.2 शैव धर्म की उत्पत्ति एवं विकास

वेदों में शिव के लिये भिन्न–भिन्न सम्बोधनों का प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में शिव को रुद्र कहा गया है। ऋग्वेद में रुद्र से सम्बन्धित तीन प्राप्त सूत्रों में रुद्र को बि–रूप, बभुवर्ण, पीवर अङ्ग, सुभग ओष्ठधारी तथा केशधारी कहा गया है। यजुर्वेद में नीलग्रीव, पर्वतवासी, कृत्तिकावासताम्रवर्ण एवं लोहित आदि सम्बोधनों का प्रयोग शिव के लिये किया गया है। अथर्ववेद शिव को नीलकंठ, लोहितपृष्ठ तथा नीलोदर से सम्बोधित किया गया है।

ऋग्वेद में रुद्र का महत्व विष्णु से कम दृष्टिगोचर होता है परन्तु कालान्तर में उनकी महत्ता में उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। ऋग्वेद में रुद्र एक भयानक देवता है। ऋग्वेद में कई मंत्रों द्वारा उनके क्रोध से उपासकों को बचाने की प्रार्थना की गयी है।

रुद्र वज्र एवं विद्युत धारण करने वाले देवता हैं तथा उन्हें तीर चलाने में भी निपुणता प्राप्त है। रौद्ररूप के साथ उनके व्यक्तित्त्व में प्रज्ञा, दानशीलता, वदान्यता तथा शिवत्व भरा हुआ है। ऋग्वेद में रुद्र के लिए एक मंत्र में 'नृघ्न' तथा एक स्थल पर 'त्र्यम्बक' विशेषण का प्रयोग हुआ है।

वाजसनेयि संहिता में रुद्र को समस्त लोकों का स्वामी, अन्नों, खेतों तथा वनों का अधिपति एवं चोर एवं डाकुओं का भी स्वामी बताया गया है। वाजसनेयि संहिता में ही 'अम्बिका' को रुद्र की बहन बताया गया है किन्तु कालान्तर में उन्हें माता के रूप में स्वीकार किया गया।

यजुर्वेद में 'शर्व' तथा 'भव' नाम रुद्र के लिए उपयोग में लाये गये हैं। इसके शतरुद्रिय स्त्रोत में प्रकृति के प्रत्येक कार्य एवं भाग को रुद्र के क्रिया क्षेत्र में रखा गया है। ब्राह्मण ग्रंथों में रुद्र को पशुहन्ता एवं मानवहन्ता

के रूप में प्रदर्शित किया गया है जिससे देवता भी डरते थे। कल्पसूत्रों में शिव की श्रेष्ठता अन्य देवताओं से अधिक बताई गयी है। सूत्र ग्रंथों में रुद्र के लिये शिव, हर, मृड़ तथा शंकर नामों का प्रयोग हुआ है तथा वाजसनेयि संहिता के उत्तरवर्ती अध्यायों में रुद्र के लिये महादेव और ईश जैसे सम्बोधन भी प्रयोग किये जाने लगे हैं। कालान्तर में रुद्र के लिए 'शर्व' एवं 'भव' का भी प्रयोग हुआ है जो अग्नि के प्राचीन नाम है।

यजुर्वेद में रुद्र के लिए 'व्युप्त केश' के प्रयोग के आधार पर विद्वान उन्हें धार्मिक नृत्य का देवता स्वीकारते है। शतपथ तथा कौषीतकि ब्राह्मण ग्रंथों में रुद्र को ऊषा का पुत्र कहा गया है। इनमें रुद्र के आठ नामों का उल्लेख प्राप्त होता है– रुद्र, शिव, उग्र, अशनि, भव, पशुपति, महादेव तथा ईशान। जिसमें प्रथम चार उनके विनाशकारी रूप हैं और अन्तिम चार कल्याणकारी रूप।

रुद्र के अमंगलकारी, विनाशकारी और उग्र रुप का उल्लेख गृह्यसूत्रों से भी प्राप्त होता है जिसमें रुद्र के बारह नामों का उल्लेख प्राप्त होता है।

उपनिषद् काल में रुद्र और शिव एक रूप में स्थापित हो जाते है। श्वेताश्वरतर एवं अथर्वशिरस् आदि उपनिषद् में शिव की महिमा का वर्णन है। श्वेताश्वरतर उपनिषद् में रुद्र की प्रतिष्ठा ब्रह्मा के स्थान पर कर उन्हें सर्वश्रेष्ठ देवता स्वीकार किया गया है।

शिव की प्रधानता महाकाव्यों में भी प्रतिष्ठित है। गंगा को पृथ्वी पर लाने के लिए भागीरथ ने शिव की ही तपस्या की थी तथा सृष्टि की रक्षा करने के लिए शिव ने ही समुद्र मंथन से निकले हलाहल का पान किया था। रामायण के अनुसार शिव की आराधना भारत भूमि की सीमा के पार लंका में भी की जाती थी। रावण की प्रतिष्ठा शिवभक्त के रूप में ही की गयी है। महाभारत के अनुसार अर्जुन को पाशुपत अस्त्र की प्राप्ति हिमालय पर किये गये शिव की उपासना के कारण हुयी थी।

श्रीकृष्ण ने भी पुत्र प्राप्ति के लिये साम्ब शिव की उपासना की थी। पुराणों में शिव की निर्गुण तथा सगुण दो रुपों में परिकल्पना की गयी है। शिव की कल्पना सृष्टिकर्त्ता, पालनकर्त्ता तथा निर्माणकर्त्ता इन तीनों रूप में की गयी है। पुराणों में उन्हें सभी देवताओं में श्रेष्ठ अर्थात् महादेव कहा गया है। उनके लिये शर्व, भव, त्र्यम्बक, ईशान, महादेव, शंकर, शूलपाणि, त्रिशूलधारी, नीललोहित, पिनाकी, नीलकंठ, वृषभध्वज, सहस्त्राक्ष, पशुपति, अतिभैरव, सर्वज्ञ तथा ईश्वर समेत अनेक सम्बोधनों का प्रयोग हुआ है। शिव पुराण के अनुसार शिव के वाम अंग से हरि, दक्षिण अंग से ब्रह्मा तथा हृदय से रुद्र उत्पन्न हुए हैं।

पुराणों में शिव के विनाशकारी एवं कल्याणकारी दोनों ही रूपों का वर्णन प्राप्त होता है। पुराणों में शिव लिंग पूजा का भी वर्णन प्राप्त होता है।

प्राचीन भारत में शिव की उपासना की सिद्धि पुरातात्विक एवं साहित्यिक साक्ष्य भी करते है। भारत की प्राचीन आहत मुद्राएँ जिनकी प्राचीनता पाँचवी–छठी शताब्दी ई.पू. तक जाती है, पर शिव उपासना के प्रतीक वृषभ, नन्दिपद आदि शिव प्रतीक की प्राप्ति होती है। अर्थशास्त्र में दुर्ग अथवा नगर–निवेश करते समय उनके मध्य शिव सदन स्थापित करने का उल्लेख है। पतंजलि के महाभाष्य के वर्णन से द्वितीय शताब्दी ई.पू. में शिव मूर्ति के निर्माण और उसके पूजन के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। पतंजलि ने महाभाष्य में शिव के अनेक नामों का

उल्लेख किया है। यथा–भव, सर्व, गिरीश, शिव, रुद्र, त्र्यम्बक, महादेव आदि। विदेशी शासकों शक, पल्लव एवं कुषाण आदि शासकों के मुद्राओं पर शिव, वृषभ एवं त्रिशुल की आकृतियों का अंकन यह सूचना देता है कि वे भी शैव धर्म से प्रभावित थे।

गुप्त शासकों के काल में वैष्णव धर्म के साथ–साथ शैव धर्म का भी विकास हुआ। अनेक मन्दिरों एवं मूर्तियों के निर्माण का उद्देश्य शिवोपासना था। उदयगिरि गुहालेख से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का संधि–विग्रहक मंत्री वीरसेन शैवमतावलम्बी था तथा उसने उदयगिरि पहाड़ी पर एक शैव गुफा मन्दिर का निर्माण कराया था। कुमारगुप्त प्रथम के काल में, मंत्री पृथ्वीसेन ने एक शिव मन्दिर को दान दिया था तथा करमदण्डा एवं खोह में शिवलिङ्ग की स्थापना की गयी थी। स्कन्दगुप्त ने अपने शासन काल में वृषभ प्रकार के सिक्के चलाये थे जो उसके शिवोपासक होने की सूचना प्रदान करते है। नचना–कुठार में पार्वती की प्रतिमा तथा भव्य शिवमन्दिर एवं भूमरा में शिवमूर्ति एवं शिवमन्दिर की स्थापना का श्रेय गुप्तों को ही जाता है। गुप्तकाल में पाशुपत सम्प्रदाय का विशेष विकास हुआ। इसी काल में अर्धनारीश्वर शिव की अनेक प्रतिमाओं का निर्माण हुआ तथा त्रिमुर्ति के रूप में ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव की पूजा की परम्परा प्रारम्भ हुई। गुप्त काल की 'हरिहर' की अनेक मूर्तियां दृष्टिगोचर होती है, सम्भवतः इनका निर्माण समन्वय की भावना से प्रेरित होकर किया गया था। गुप्त काल की रचनाओं में भी शैव धर्म से जुड़े अनेक विवरण प्राप्त होते हैं। कालिदास ने 'कुमारसम्भव' में शिव की महिमा का वखान किया है। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' का आरम्भ और अन्त शिवभक्ति के साथ हुआ है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में शिव के अष्टरूपों का वर्णन प्राप्त होता है।

गुप्त काल के बाद भी शैव धर्म की लोकप्रियता में वृद्धि होती रही। महाकवि बाणभट्ट ने अपने कृति 'हर्षचरित' में थानेश्वर नगर के प्रत्येक गृह में शिव पूजन का वर्णन किया है। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भी तत्कालीन समाज में शैव धर्म के लोकप्रियता की ओर संकेत किया है। बाणभट्ट के वर्णन के अनुसार शशांक और भास्करवर्मा शैवमतानुयायी थे। पाल नरेशों के अभिलेख में 'ऊँ नमः शिवाय' का अंकन मिलता है जो बंगाल में शैव धर्म की लोकप्रियता की ओर संकेत करता है।

पूर्व मध्य काल के राजवंशों, यथा गुर्जर प्रतिहार, चन्देल, चौहान, सेन, कलचुरि तथा चेदि आदि राजवंशों के शासक शिव के अनन्य उपासक थे। कलकुरि अभिलेखों में कलचुरि वंश के शासकों द्वारा 'परम् माहेश्वर' की उपाधि धारण करने का उल्लेख है। परमार नृपतियों द्वारा अनेक मन्दिरों एवं मूर्तियों का निर्माण कराया गया था। परमारों के शासन काल में उज्जैन की प्रतिष्ठा शैव धर्म के प्रमुख केन्द्र के रूप में स्थापित हुई। परमार नृपति भोज शैवमतानुयायी थे, जिन्होनें उदयपुर में नीलकंठेश्वर मन्दिर का निर्माण कराया। चन्देल शासकों ने भी कालिंजर स्थित नीलकंठेश्वर तथा खजुराहों के विश्व प्रसिद्ध कन्दरिवा महादेव मन्दिर का निर्माण कराया। गुजरात के कठियावाड़ में स्थित सोमनाथ मन्दिर, शैव धर्म की लोकप्रियता का प्रतीक था जिसे महमूद गजनवी द्वारा तोड़ डाला गया। पुरातत्वेत्ताओं को सर्वेक्षण के दौरान समूचे उत्तर भारत से मध्यकालीन शिव मूर्तियों एवं मन्दिरों के अवशेष प्राप्त हुये है।

शैव धर्म का प्रसार मात्र उत्तर भारत की सीमा तक सीमित नही था बल्कि इसका प्रसार एवं लोकप्रियता दक्षिण भारत में भी व्याप्त थी। दक्षिण भारत में शासन करने वाले राजवंश– पल्लव, चालुक्य, राष्ट्रकूट, चोल तथा पाण्ड्य आदि के शासन काल में शैव धर्म की उन्नति हुई।

चोलों के शासन काल में शैव धर्म का अत्यन्त विकास हुआ। चोल शासक राजराज प्रथम शिव का परम् उपासक था। जिसने तंजौर में 'राजराजेश्वर' शिव मन्दिर का निर्माण कराया था। राजराज के पुत्र ने गंगैकोण्डचोलपुरम् में 'वृहदीश्वर मन्दिर' का निर्माण कराया थ। चोल नृपति कुलोत्तुंग प्रथम भी परम् शैव था। एलोरा के प्रसिद्ध कैलाश मन्दिर का निर्माण राष्ट्रकूटों के शासन काल में हुआ जिसका श्रेय राष्ट्रकूट नृपति कृष्ण प्रथम को प्राप्त है। पल्लव काल में शैव धर्म के प्रचार–प्रसार में नयनारों की भूमिका प्रमुख रही।

इस प्रकार वैदिक काल के पूर्व से शैव धर्म की लोकप्रियता में वृद्धि होती रही तथा बाद के कालों में शैव धर्म का प्रसार निर्बाध रूप से होता रहा। आज भी शिव भारतीय संस्कृति का एक अभिन्न भाग हैं।

7.3 शैव धर्म के प्रमुख सम्प्रदाय

शैव धर्म में मत एवं नियमों के आधार पर अलग–अलग सम्प्रदायों का विकास हुआ। इनके विकास का आरम्भ गुप्त काल से होने लगा था। शैव सम्प्रदाय, पाशुपत सम्प्रदाय, कालदमन सम्प्रदाय, कापालिक सम्प्रदाय तथा लिंगायत अथवा वीरशैव सम्प्रदाय की गणना शैव धर्म की प्रमुख सम्प्रदायों में होती है।

7.3.1. पाशुपत सम्प्रदाय

पाशुपत सम्प्रदाय को शैव धर्म का प्राचीनतम् सम्प्रदाय माना जाता है। महाभारत के शान्ति पर्व में इसका सर्वप्रथम उल्लेख प्राप्त होता है।

पुराणों के विवरणानुसार, पाशुपत मत के संस्थापक ब्रह्मचारी लकुलिन् अथवा लकुलीश हैं। इस सम्प्रदाय के अनुयायियों ने लकुलीश को शिव का अठ्ठाइसवां अवतार माना है। पाशुपत सम्प्रदाय के अनुयायी हाथ में एक लंगुड (दण्ड) धारण करते हैं जिसे साक्षात शिव का प्रतीक माना जाता है। कुषाण नृप हविष्क की मुद्रा पर इसका अंकन प्राप्त होता है। महर्षि भारद्वाज को पुराणों में महापाशुपत आचार्य की संज्ञा दी गयी है। बाणभट्ट ने अपनी कृति कादम्बरी में इस सम्प्रदाय के विशिष्ट तत्वों का उल्लेख किया है यथा–इनके अनुयायी ललाट् पर भस्म तथा हाथ में रुद्राक्ष की माला धारण किया करते थे। ह्वेनसांग अपने काल में सिन्ध तथा अहिच्छत्र के भू–भाग में भस्मधारी पाशुपत शैव की उपस्थिति का उल्लेख करते है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल के मथुरा लेख में उदिताचार्य नामक एक शैव मतानुयायी का उल्लेख प्राप्त होता है। गुप्त, चाहमान, कलचुरी तथा चेदि वंश के अभिलेखों में पाशुपत शैवों का उल्लेख प्राप्त होता है तथा उनके द्वारा शिव मन्दिरों के स्थापना का भी विवरण प्राप्त होता है। यत्र–तत्र पाशुपत और शैव शब्द एक दूसरे के पर्यायवाची बताये गये है। पाशुपत मतानुयायी का विश्वास जाति–पाति में नहीं था वे मानववादी थे। शक, पल्लव एवं कुषाण राजवंशों ने पाशुपत मतोन्नयन में योगदान दिया।

पाशुपत मतानुयायियों ने अपने मत में पाँच सिद्धांतों को स्वीकार किया था।

1. कार्य– इसमें स्वातंत्र्य शक्ति नहीं होती। इसमें जीव तथा जड़ आते है।

2. कारण– यह समस्त वस्तुओं की सृष्टि एवं संहार का केन्द्र होता है यह स्वतंत्र तत्व है जिसमें ज्ञान तथा क्रिया की शक्ति निहित होती है। इसे परम्पिता, परमेश्वर स्वीकारा गया है।
3. योग– जो आत्मा तथा परमात्मा को जोड़ता है यह क्रियात्मक तथा अक्रियात्मक दो प्रकार का होता है।
4. विधि– यह वह साधन है जिसमें जीव परमात्म का साक्षात्कार प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। भस्म लगाना, मंत्रजाप, प्रदक्षिणा आदि इसके प्रमुख अंग है।
5. दुःखान्त– इसका तात्पर्य है सभी प्रकार के दुःखों से मुक्ति। अनात्मक तथा सात्मक इसके दो भेद बतलाये गये हैं।

पाशुपत सम्प्रदाय के विशिष्ट केन्द्र के रूप में नेपाल के काठमाण्डू में स्थित पशुपतिनाथ का मन्दिर प्रतिष्ठित है।

7.3.2 लिंगायत सम्प्रदाय

लिंगायत सम्प्रदाय जिसे वीर शैव अथवा जंगम सम्प्रदाय के नाम से जाना जाता है, के प्रवर्तक आचार्य वल्लभ प्रभु थे। आचार्य वल्लभ के शिष्य एवं कलचुरि नरेश विजयादित्य के मंत्री 'बसव' को इस मत को प्रसारित करने का श्रेय प्राप्त है। शैवागम परम्परानुसार रेणुकाचार्य, दारुकाचार्य, एकोरामाचार्य पण्डिताराध्य और विश्वाराध्य, पाँच ऋषि इस मत के संस्थापक थे। जिनका जन्म शिव के पाँच विशिष्ट लिंगों के द्वारा हुआ था। लिंगायत मतानुयायी जाति प्रथा को नहीं मानते थे। वे अपने गर्दन में चाँदी की डिबिया धारण करते थे जिसमें शिवलिंग रहता था। लिंगायत मत के प्रचारकों ने अपना अधिकांश साहित्य कन्नड भाषा में लिखा। आचार्य श्रीपति, श्रीकरभाष्य में इस लिंगायत सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की उत्पत्ति उपनिषदों से स्वीकारा है।

लिंगायत मतावलम्बियों ने वेदों की प्रमाणिकता का खण्डन किया है तथा यज्ञों में दी जाने वाली बलि, मूर्ति पूजा, बाल विवाह, जाति प्रथा का विरोध किया है। इन्होने दाह संस्कार का भी विरोध किया तथा मृतकों को समाधिस्थ करने की बात कही।

इनके प्रमुख रूप से चार सिद्धान्त है–

1. कर्म – कर्म का तात्पर्य निष्काम कर्म से है जिसके प्रतिफल की इच्छा नहीं रहती। इसके अनुसार शिव परम्तत्व एवं अन्तिम शरणास्थल है।
2. स्थल – स्थल के दो भेद बताए गये है। 1. लिंग स्थल, जो शिवरूप है तथा जीवों का उपाष्य है तथा 2. अंगस्थल, जिसका उपासक जीव तत्व है।
3. लिंग के तीन भेदों का वर्णन है।

   क) भाव लिंग– यह परम्तत्व है। इसका साक्षात्कार केवल श्रद्धा के द्वारा किया जा सकता है।

   ख) प्राण लिंग– यह सूक्ष्म तत्व है। इसका ज्ञान सूक्ष्म दृष्टि द्वारा सम्भव है।

   ग) इष्ट लिंग– इसका स्वरूप स्थूल है। इसे नेत्रों द्वारा भी देखा जा सकता है।

   इन तीनों का वर्णन क्रमशः सत्, चित् तथा आनन्द के रूप में है।

कालान्तर में चार लिंगायत श्रेणियों का विकास हुआ जो जंगम, शीलबन्त, वणिक् तथा पंचमशाली नाम से जानी जाती है।

लिंगायत सम्प्रदाय बारहवीं शती ई. में अपने स्मरण और धर्म में व्याप्त कुरीतियों के विरोध में आन्दोलन का रूपधारण किया।

7.4 सारांश

ऋग्वैदिक काल के पूर्व से अद्यतन भारतीय एवं विदेशी भू–भागों पर शैव धर्म से सम्बन्धित अनेकों साक्ष्य प्रकाश में आये हैं तथा नवीन अन्वेषों में अभी भी शैव धर्म से सम्बन्धित साक्ष्य प्राप्त होते रहते हैं। ऋग्वेदोत्तर काल में शिव की लोकप्रियता के विकास ने समाज के प्रत्येक चरण को प्रभावित किया तथा राजनीतिक एवं आर्थिक विषयों के केन्द्र में भी शिव रहे। पूर्व मध्यकाल में शिव की लोकप्रियता में विशेष वृद्धि हुई तथा शैव धर्म के अनेक सम्प्रदायों का विकास हुआ। वर्तमान में भी शिव की लोकप्रियता में निरन्तर वृद्धि हो रही है। द्वादश ज्योतिर्लिंग समेत अनेक शैव स्थल हिन्दू आस्था का प्रमुख केन्द्र हैं।

7.5 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. ऋग्वेद
2. तैत्तिरीय संहिता
3. वायु पुराण
4. स्कन्द पुराण
5. मत्स्य पुराण
6. वामन पुराण
7. कुर्म पुराण
8. महाभारत

- भारतीय संस्कृति– एच.एन.दूबे.
- भारत की प्रारम्भिक संस्कृतियाँ एवं सभ्यताएँ–एच.एन.दूबे.
- प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति– के.सी. श्रीवास्तव

7.6 निबन्धात्मक प्रश्न

1. वैदिक काल में शिव के स्वरूप पर टिप्पणी कीजिए।
2. पुरातात्विक साक्ष्यों के आलोक में उत्तर भारत में शैव धर्म की लोकप्रियता पर प्रकाश डालिए।
3. दक्षिण भारतीय सम्राटों द्वारा शैव धर्म के विकास के लिये किये गयें कार्यों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
4. शैव धर्म में सम्प्रदायों के उदय की विवेचना करते हुए लिंगायत सम्प्रदाय के विकास में आचार्य बसव के योगदान की समीक्षा कीजिए।

इकाई 8 – शक्ति पूजा – एक सर्वेक्षण

इकाई की रूपरेखा

8.0 प्रस्तावना

8.1 उददेश्य

8.2उद्भव और विकास

8.3शाक्त धर्म के सिद्धान्त और आचार

8.4सारांश

8.5शब्दावली

8.6 बोध प्रश्न

8.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

8.1प्रस्तावना

भारत में शक्ति की उपासना, प्राचीन काल से ही चली आ रही है। प्राचीन भारतीय साहित्य में यत्र तत्र शक्ति–पूजा के साक्ष्य उपलब्ध होते हैं। अनेक पुरातात्विक साक्ष्य भी शक्ति–पूजा पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं।

इस इकाई में सर्वप्रथम शक्ति पूजा के उद्‌भव और विकास पर प्रकाश डाला गया है। शक्ति के विविध रूपों की पूजा और कालान्तर में शाक्त धर्म पर तंत्रवाद के प्रभाव का भी विवेचन किया गया है। शक्ति–पूजा में तंत्रवाद के समावेश से शाक्त–तांत्रिक विचारधारा की समाज में लोकप्रियता बढ़ती गई। यहाँ शाक्त–धर्म के सिद्धान्त और उसके आचार पक्ष पर भी प्रकाश डाला गया है।

8.0 उद्‌देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप यह जान पायेंगे–

- शक्ति–उपासना की प्राचीनता के विषय में
- शक्ति पूजा का उद्‌भव और उसका विकास कैसे हुआ।
- शाक्त धर्म में तांत्रिक विचारधारा के समावेश के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे
- शाक्तों के सिद्धान्त और आचार क्या थे।

8.2 उद्‌भव और विकास

विष्णु तथा शिव की भाँति शक्ति की पूजा भी प्राचीन काल से होती रही है। शक्ति को इष्टदेवी मानकर तंत्र–मंत्र के द्वारा उनकी अराधना करने वाले शाक्त कहे जाते थे। शैव धारा के साथ शाक्त धारा का गहरा संबंध था। महाभारत, मार्कण्डेय पुराण व अन्य पुराणों में शक्ति के विभिन्न रूप और नामों का उल्लेख मिलता है यथा– दुर्गा, काली, उमा, पार्वती आदि। उमा व पार्वती शिव की अर्द्धांगिनी मानी गई है।

शाक्त धर्म की प्राचीनता भी प्रागैतिहासिक काल तक जाती है। (M.M. Gopinath Kaviraj, History of Philosophy : Eastern and Western, Vol. 1) शक्ति की उपासना के साक्ष्य प्रागैतिहासिक काल से मिले हैं। सैंधव सभ्यता के उत्खनन में बहुसंख्यक स्त्री मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इन नारी मृण्मूर्तियों को अधिकांश विद्वानों ने मातृदेवी माना है। वैदिक देव मंडल में देवताओं के साथ ही देवियों की पूजा भी प्रचलित थी। वैदिक साहित्य में अदिति, उषा, सरस्वती, लक्ष्मी आदि देवियों का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद के दशम मण्डल के देवी

सूक्त में वाक्शक्ति की देवी–रूप में अराधना की गई है। ऋग्वेद में कई स्थलों पर अदिति की मातृरूप में उपासना की गई है। (आदितिद्यौरंदितिरन्तरिक्षम् आदि निर्माता स पिता स पुत्रः। विश्वेदेवा अदितिः प×चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्, ऋग्वेद) यहाँ अदिति को माता, पिता, पुत्र के साथ ही समस्त देवता, पञ्चजन, भूत, भविष्य माना गया है। ऋग्वेद में ही सरस्वती को सौभाग्य प्रदान करने वाली देवी के रूप में माना गया है। (सरस्वती न सुभगामयस्यकरत)। अथर्ववेद में भी पृथ्वी की मातृरूप में स्तुति का उल्लेख मिलता है। वैदिक काल में भी देवियों के विभिन्न नाम और विभिन्न रूपों में शक्ति–पूजा का प्रचलन रहा होगा। शाक्त धर्म के उदय में कई शक्तियों का प्रभाव परिलक्षित होता है यथा– अवैदिक धारा का प्रभाव, पुराणों का प्रभाव, बौद्ध धर्म की देवी तारा की उपासना का प्रभाव तथा सांख्य दर्शन का प्रभाव, इन सबका शाक्त धर्म के विकास में विशेष योगदान माना जाता है। (बी0एन0एस0 यादव, अध्याय 5 : 'भारत के प्रमुख धर्म तथा भारतीय संस्कृति को उनकी देन'; भारतीय संस्कृति)।

महाभारत में अनेक स्थलों पर शक्ति–पूजा के साक्ष्य मिलते हैं। महाभारत के भीष्म पर्व में युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिये श्रीकृष्ण ने अर्जुन को शक्ति–पूजन करने के लिये कहा था। महाभारत के ही विराटपर्व में युधिष्ठर ने दुर्गास्त्रोत का पाठ किया था। इसमें उन्होंने देवी को विन्ध्यवासिनी, महिषासुरमर्दिनी, यशोदा के गर्भ से उत्पन्न, नारायण प्रिया तथा कृष्ण की बहन कहा है। यह उल्लेख मिलता है कि गोप के घर यशोदा के गर्भ से जन्म लेने वाली कन्या जिसे कंस ने प्रस्तर शिला पर पटक दिया था और वह आकाश मार्ग से विन्ध्य पर्वत की ओर चली गई थी (यशोदागर्भ संभूता... नंदगोपकुले जातां....। शिलातटविनिक्षिप्तामाकाशं प्रतिगामिनी– महाभारत) महाकाव्यों में मिलने वाले विवरणों से यह ज्ञात होता है कि शक्ति की पूजा अत्यंत लोकप्रिय थी।

हरिवंश पुराण के विष्णुपर्व के अध्याय तीन में आर्यास्तुति में देवी का आह्वान किया गया है। इसमें देवी के विविध नामों का उल्लेख मिलता है जैसे– आर्या, नारायणी, श्री, कालरात्रि, नंद गोप की पुत्री, बलदेव जी की बहन आदि। पर्वत के शिखरों, नदियों, वनों आदि में देवी का आवास बताया गया हैं इन्हें विन्ध्य से जुड़ी देवी कहा गया है जिनकी पूजा शबर, बर्बर और पुलिन्द जनजाति भी करती थी। कुछ विद्वानों ने यह माना है कि सातवीं शताब्दी के बाद से शक्ति पूजा एक धर्म के रूप में दृष्टिगोचर होने लगती है। मार्कण्डेय पुराण में देवी माहात्म्य का विस्तृत विवरण मिलता है। देवी की शक्ति, माया, चेतना, बुद्धि, तृष्णा, क्षान्ति, श्रद्धा, कान्ति, लक्ष्मी, स्मृति, दया, मातृ आदि रूपों में पूजा की गई है। इसमें यह कथा मिलती है कि जब सभी देवता महिषासुर से परास्त हो गये तब महिषासुर के वध के लिये शिव, ब्रह्मा, इन्द्र, चन्द्र, वरूण सूर्य आदि देवताओं की समवेत शक्ति से देवी की उत्पत्ति हुई। उन्हें सभी देवताओं ने अपने अस्त्र–शस्त्र प्रदान किये। शंकर ने त्रिशूल, विष्णु ने चक्र, अग्नि ने तेज,

वरूण ने शंख, वायु ने धनुष और बाण के साथ तरकस, ब्रह्मा ने कमण्डल आदि भेंट किया। समस्त देवों की शक्ति और अस्त्रों से युक्त देवी ने युद्ध में महिषासुर का वध किया। इन्हें महिषासुरमर्दिनी कहा गया। मार्कण्डेय पुराण में दुर्गासप्तशती के अंश में शक्ति की कथा व पूजन–विधि का विस्तृत वर्णन मिलता है। अत्यंत श्रद्धा से नवरात्र में दुर्गासप्तशती का पाठ किया जाता है। शक्ति के माहात्म्य को स्पष्ट करने वाली एक अन्य कथा भी मिलती है जिसमें शुम्भ निशुम्भ जैसे दानवों को मारकर देवी ने देवताओं की रक्षा की थी।

देवी की उपासना तीन रूपों में प्रचलित थी। शान्त रूप, प्रचण्ड रूप और काम प्रधान रूप। देवी के शान्त रूप की उपासना अधिक लोकप्रिय थी। उमा, पार्वती, लक्ष्मी आदि देवी के शान्त रूप को दर्शाती थीं। उमा व पार्वती का सम्बन्ध शिव के साथ स्थापित हुआ। शिव उमा, पार्वती के पति के रूप में मिलते हैं। दुर्गा, काली, कराली, चंडिका देवी के उग्र और संहारकारी स्वरूप के परिचायक हैं। कापालिक और कालामुख संप्रदाय को मानने वाले देवी के इस उग्र रूप की पूजा करते हैं। देवी को प्रसन्न करने के लिये बलि, सुरा तथा मांस आदि इनके भोज्य पदार्थ हैं। शिव और शक्ति के परोपकारी और भीषण स्वरूपों का संयोग विभिन्न संप्रदायों के समायोजन का एक महत्वपूर्ण आधार बना (उपिंदर सिंह, प्राचीन एवं पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास) शाक्त धर्म को मानने वाले शक्ति के काम प्रधान रूप की भी अराधना करते हैं। भारत में देवी के विविध रूपों के मंदिर स्थित हैं। जम्मू में वैष्णो देवी तथा मध्य प्रदेश के मैहर में देवी के सौम्य रूप के मंदिर हैं। देवी के उग्र रूप का मंदिर कलकत्ता में स्थित हैं। काम प्रधान रूप से संबंधित मंदिर असम के कामाख्या में स्थित हैं

शक्ति की पूजा से संबंधित अनेक पुरातात्विक प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं। सैंधव सभ्यता के पुरास्थलों के उत्खनन से मिलने वाली मातृदेवी की मृण्मूर्तियाँ इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। ऐतिहासिक काल में मिलने वाले कुषाण कालीन सिक्कों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रथम शताब्दी ईसवी में देवी प्रतिमायें निर्मित होने लगी थीं। कुषाण शासक हुविष्क के सिक्कों पर देवी के चित्र मिलते हैं। गुप्त काल में गंगा, यमुना, दुर्गा, पार्वती आदि देवियों की बहुत सारी मूर्तियों के साक्ष्य मिले हैं। नचना कुठार का पार्वती मंदिर गुप्त काल में शक्ति पूजा की लोकप्रियता का उदाहरण प्रस्तुत करता है। उदयगिरि की गुफा सं0 6 की भित्ति पर दुर्गा के महिषासुरमर्दिनी स्वरूप का अंकन मिलता है। हर्षचरित में यत्र तत्र दुर्गा–पूजन का उल्लेख हर्ष के काल में शक्ति–पूजा के प्रचलन को बताता है। देवी के मातृरूप की उपासना का विशेष महत्व था। पूर्व मध्यकाल में देवी के अनेक मन्दिरों का निर्माण हुआ। इस सन्दर्भ में म0प्र0 के जबलपुर जिल में भेड़ाघाट के पास स्थित चौंसठ योगिनी मंदिर उल्लेखनीय है। इनमें सप्तमातृकाओं व दुर्गा की मूर्तियाँ मिलती हैं। दुर्गा का इन सप्तमातृकाओं में से किसी एक रूप में भी पूजन होता है। मध्य प्रदेश में ही खजुराहों के अतिरिक्त गुजरात, राजस्थान, उड़ीसा आदि से देवी की

मूर्तियाँ प्राप्त होती है। शक्ति पूजन तथा उससे सम्बन्धित देवी की मूर्तियों से जुड़े अभिलेखीय साक्ष्य भी मिलते हैं। प्रतिहार शासक महेन्द्रपाल ने अपने अभिलेख में दुर्गा की अंबा, महिषासुरमर्दिनी आदि नामों से स्तुति की है। संजन ताम्रलेख में यह उल्लेख मिलता है कि राष्ट्रकूट शासक अमोघवर्ष महालक्ष्मी का परम भक्त था।

पूर्व मध्यकाल में कुछ समय पश्चात शाक्त–धर्म पर तंत्रवाद का प्रभाव परिलक्षित होने लगा। शाक्त धर्म के साथ–साथ बौद्ध धर्म, शैव धर्म (कश्मीर शैव मत), वैष्णव, जैन आदि धर्मों पर भी तंत्रवाद का प्रभाव बढ़ने लगा। तांत्रिक विचारधारा में शक्ति को स्त्री स्वरूपा माना गया है। शैव और शाक्त तांत्रिक समुदाय एक दूसरे से संबंधित थे। कश्मीर के शैव मत सम्प्रदाय में शक्ति और शिव के अन्र्तसम्बन्ध को महत्वपूर्ण माना गया है जैन धर्म पर इसका प्रभाव सीमित था। शाक्त–तांत्रिक विचारधारा के कारण समाज में अंधविश्वास पनपने लगा। परन्तु दूसरी तरफ स्त्री–दशा में सुधार लाने और जाति–प्रथा की कठोरता को कुछ कम करने की दिशा में भी शाक्त तांत्रिक विचारधारा ने योगदान दिया।

शाक्त–तांत्रिक विचारधारा में एक देवता की उपासना जप, तप, मंत्र पर विशेष बल दिया गया है। वर्तमान में कश्मीर, कांची और कामाख्या शक्ति उपासना के प्रमुख केन्द्र हैं। कश्मीर और कांची श्रीविद्या के और कामाख्या कौल मत का प्रसिद्ध केन्द्र माना गया है।

8.3 शाक्त धर्म के सिद्धान्त और आचार

शाक्त–धर्म के सिद्धान्त और आचार त्रिपुरारहस्य, कुलार्णव, डाकार्णव, मालिनीविजय, महानिर्वाण आदि तंत्र ग्रन्थों में मिलते हैं।

शाक्त मातृदेवी की शक्ति को सर्वोपरि मानते हैं। संसार की उत्पत्ति, पालन और संहार का कारण शक्ति को ही माना है। शक्ति शिव का ही क्रियाशील रूप मानी जाती है। शक्ति के किसी एक रूप दुर्गा, काली या तारा को अपना ईष्ट मानकर साधक उनसे अपना तादात्म्य स्थापित करता है। शाक्त मत में भक्ति, ज्ञान और कर्म तीनों का समन्वय मिलता है। भक्ति का तात्पर्य ईष्ट देव की भक्ति और रहस्यमय आंतरिक उपासनाऐं हैं। ज्ञान का सम्बन्ध शाक्त–दर्शन के वास्तविक ज्ञान से है। कर्म के अन्तर्गत ध्यान, योग, तन्त्र, मन्त्र आदि हैं। शाक्त, धर्म में कुण्डलिनी शक्ति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। साधना और मंत्रों द्वारा शरीर–स्थित कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करने पर ही मुक्ति मिलती है। सांसारिक भोगों को मोक्ष के मार्ग की, बाधा नहीं माना गया है। कौल मत को मानने वाले शाक्त, पंचमकार अर्थात मदिरा, मांस, मत्स्य, मुद्रा तथा मैथुन की उपासना के द्वारा मोक्ष पाने का प्रयास करते थे। कुत्सापूर्ण अनुष्ठानों के कारण कौलाचार में लोगों की रूचि बहुत अधिक नहीं थी।

भारतीय धार्मिक जीवन में प्राचीन काल से लेकर आज तक शाक्त धारा का प्रभाव रहा है। शक्ति की पूजा देश के विभिन्न भागों में अत्यंत उत्साह पूर्वक होती है। बंगाल और असम में शाक्त–मत का विशेष महत्व है।

8.4सारांश

इस इकाई में आपने शक्ति–पूजा की प्राचीनता को जाना। विभिन्न साहित्यिक और पुरातात्विक स्रोत यह स्पष्ट करते हैं कि प्रागैतिहासिक काल और आगे ऐतिहासिक काल में शक्ति–उपासना की लोकप्रियता बढ़ती जा रही थी। मार्कण्डेय पुराण में देवी के कई रूपों में पूजन किये जाने का उल्लेख मिलता हैं महिषासुर नामक असुर के वध के लिये सभी देवताओं की समवेत शक्ति से उत्पन्न देवी ने, जिसे सभी देवताओं ने अपने अस्त्र व शस्त्र प्रदान किये, महिषासुर का मर्दन किया। महिषासुरमर्दिनी के रौद्र रूप में शक्ति की उपासना अत्यंत लोकप्रिय है। देवी की उपासना शान्त रूप, रौद्र रूप और कामप्रधान रूप में प्रचलित थी। देवी के इन विविध रूपों से संबंधित मंदिर भारत के विभिन्न हिस्सों में स्थित हैं। पूर्व मध्यकाल में शाक्त धर्म में तंत्रवाद का प्रभाव पड़ने लगा। न केवल शाक्त–धर्म बल्कि बौद्ध, जैन, शैव और वैष्णव धर्मों पर भी तंत्रवाद का प्रभाव परिलक्षित होता है। तांत्रिक विचारधारा में शक्ति को स्त्री रूप में माना गया है। शैव और शाक्त तांत्रिक समुदाय एक दूसरे से जुड़े हुये थे। शैव सम्प्रदाय में शिव और शक्ति को एक दूसरे से संबंधित माना गया है।

शाक्त मत को मानने वाले शक्ति रूपा महामातृदेवी को ही सृष्टि की उत्पत्ति, पालन और संहार करने वाली मानते हैं। यहाँ भक्ति, ज्ञान और कर्म तीनों का समन्वय मिलता है। शाक्त धर्म पर तंत्रवाद के प्रभाव के कारण एक ओर तो समाज में अंधविश्वास बढ़ने लगा वहीं दूसरी ओर स्त्रियों की दशा में सुधार हुआ और जाति प्रथा की कठोरता कुछ कम हुई। शाक्त धर्म के सिद्धान्त और आचार त्रिपुरारहस्य, कुलार्णव, डाकार्णव आदि में मिलते है।

8.5 शब्दावली

मृण्मूर्तियाँ – मिट्टी की मूर्तियाँ

दुर्गासप्तशती– मार्कण्डेय पुराण में अध्याय 78 से लेकर 90 तक दुर्गासप्तशती का पाठ वर्णित है।

कापालिक और कालामुख – शैव धर्म के दो सम्प्रदाय

सप्तमातृकायें– ये सात मातायें ब्राह्मणी, महेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी और यमि (चामुण्डा) है।

बोध प्रश्न.1

निम्नलिखित कथनों में कौन सा कथन सही (✓) है और कौन सा गलत (X) निशान लगाइये।

i. वैदिक देव मंडल में देवताओं की ही पूजा प्रचलित थी।

ii. देवी की उपासना शांत रूप, प्रचंड रूप व काम प्रधान रूप में की जाती थी।

iii. चौंसठ योगिनी मंदिर महाराष्ट्र में स्थित है।

iv. पूर्व मध्यकाल से शाक्त धर्म पर तंत्रवाद का प्रभाव बढ़ने लगा था।

v. शाक्त तांत्रिक विचारधारा के कारण समाज में जाति प्रथा बढ़ने लगी।

vi. देवी के काम प्रधान रूप का प्रमुख मंदिर असम के कामाख्या में स्थित है।

बोध प्रश्न–2

1. शाक्त धर्म के उद्‌भव और विकास पर प्रकाश डालिये।
2. शाक्त–धर्म में तंत्रवाद के प्रभाव की विवेचना कीजिए।
3. शाक्त–धर्म के सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए।

8.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न–1

i(x), ii(✓), iii(x), iv(✓), v(x), vi (✓)

बोध प्रश्न–2

1. उपविभाग 8.2 के अन्तर्गत उत्तर का अवलोकन करें
2. उपविभाग 8.2 में 7 पैराग्राफ देखें।

4. उपविभाग 8.3 देखें।

8.7 सहायक ग्रन्थ

1. सिंह, उपिंदर, प्राचीन एवं पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास।

2. श्रीवास्तव, के0सी0, भारत की संस्कृति।

इकाई 9–भारतीय दर्शन का इतिहासः न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा एवं वेदान्त

इकाई की रूपरेखा

9.0 प्रस्तावना

9.1 उद्देश्य

9.2 भारतीय दर्शन का इतिहास

9.3 न्याय

9.4 वैशेषिक

9.5 सांख्य

9.6 योग

9.7 मीमांसा

9.8 वेदान्त

9.9 सारांश

9.10 शब्दावली

9.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

9.12 सहायक ग्रन्थ

9.0 प्रस्तावना

प्राचीन काल से भारत में धर्म और दर्शन के मध्य विशेष अन्तर स्पष्ट नहीं था। वर्तमान समय में दोनों ही अलग रूप में देखे जाते हैं। दार्शनिक विचारधारायें सत्य असत्य व ज्ञान के विषय में विभिन्न मत व्यक्त करती हैं। ये विचारधारायें जीवन और मृत्यु के चक्र से छुटकारा पाने और मोक्ष प्राप्ति का मार्ग बताती है। भारतीय दर्शन का आरम्भ वैदिक काल से ही होता है। आर्यों ने पहले प्राकृतिक शक्तियों की देव रूप की उपासना आरम्भ की। उत्तर वैदिक काल में उपनिषदों की रचना हुई और उनमें ब्रह्म और आत्मा के विस्तृत विवेचन के साथ दार्शनिक तत्त्वों का विस्तृत विवेचन किया गया। उपनिषदों के पश्चात भारतीय दर्शन की प्रमुख शाखाओं का विकास हुआ। इनमें कुछ वैदिक थीं और कुछ अवैदिक शाखायें थीं। वैदिक शाखायें छः थीं। इन्हें षड्दर्शन भी कहा जाता है। अवैदिक शाखायें तीन थीं। वैदिक शाखाओं या षड्दर्शन का विस्तृत विवरण प्रस्तुत इकाई में किया गया है।

9.1 उद्देश्य

- इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप प्राचीन भारतीय दार्शनिक विचारधाराओं के आरम्भ के विषय में जानेंगे।
- दार्शनिक विचारधाराओं के विभिन्न प्रकारों के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे।
- विभिन्न विचारधाराओं के दार्शनिक पक्ष के बारे में जानेंगे।

9.2भारतीय दर्शन का इतिहास

मनुष्य ने अपने श्रम से शनैः शनैः अपनी भौतिक आवश्यकताओं को पूर्ण किया। फिर उसने मानव जीवन का आरम्भ, उसका अंत, प्रकृति, ब्रह्माण्ड, सृष्टि की रचना जैसे गम्भीर विषयों पर चिन्तन आरम्भ किया। वह उस परम सत्य की खोज में लग गया जो शान्ति प्रदान करे। इन्हीं खोज के फलस्वरूप जो विचारधारायें सामने आई वे विभिन्न दार्शनिक संप्रदायों के रूप में विकसित हुईं। इस आध्यात्मिक अनुभूति को ही दर्शन कहा गया।

सैन्धव सभ्यता में योग मुद्रा में बैठे योगी का चित्र तत्कालीन दार्शनिक प्रवृत्ति का ही परिचय देता है। वैदिक काल से दर्शन के वास्तविक स्वरूप का आरम्भ होता है। सर्वप्रथम आर्यों ने अपने देवी और देवताओं की अराधना प्रकृति के विविध रूपों में की। कालान्तर में एक देव की परिकल्पना की गई जिसे 'पुरुष' कहा (ऋग्वेद–1.164.46)। ऋग्वेद में हिरण्यगर्भ के रूप में इसकी प्रतिष्ठा मिलती है (ऋग्वेद 10.121.1–9)। वैदिक ऋषियों ने ब्रह्म के साथ–साथ सृष्टि की रचना के संदर्भ में चिन्तन किया। सृष्टि के आरंभ से संबन्धित विचार, ऋग्वेद के नासदीय सूक्त (10.129.7) में मिलते हैं। आर्यों के दार्शनिक विचारों का विशद वर्णन उपनिषदों में मिलता है। उपनिषदों में ब्रह्म और आत्मा का विस्तृत विवेचन मिलता है। इनमें बहुदेववाद, यज्ञ और पशुबलि का विरोध करते

हुये ब्रह्म और आत्मा के एकत्व को स्पष्ट किया गया है। उपनिषदों में ही कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त का विश्लेषण मिलता है।

कालान्तर में भारतीय दर्शन की दो प्रमुख धारायें विकसित हुई– वैदिक और अवैदिक। वैदिक धारा में वेदों को मान्यता दी गई और अवैदिक धारा ने वेदों की अपौरूषेयता को नहीं माना। वैदिक शाखा से विकसित संप्रदाय छः थे। ये इस प्रकार हैं– न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा अर्थात वेदान्त। अवैदिक शाखा की तीन उपशाखायें हो गई– चर्वाक, बौद्ध और जैन। यहाँ भारतीय दर्शन की वैदिक शाखा से विकसित छः उपशाखाओं (संप्रदायों) का वर्णन किया जायेगा जिन्हें षड्दर्शन भी कहा गया।

9. 3न्याय

न्याय दर्शन के प्रवर्तक गौतम ऋषि माने गये हैं। न्याय शब्द का अर्थ 'तर्क' या 'निर्णय' है। यह दर्शन मुख्यतः तर्क और विश्लेषण पर आधारित है। गौतम ऋषि ने न्यायसूत्रों (तृतीय शताब्दी ईसा पूर्व) में इस दर्शन का विवेचन किया है। गौतम द्वारा रचित न्यायसूत्र पर वात्स्यायन ने 'न्यायभाष्य' नामक टीका लिखी। उद्योतकर, वाचस्पति, धर्म कीर्ति, उदयन, रूचिदत्त आदि न्यायदर्शन के प्रसिद्ध दार्शनिक थे। इसे तर्कशास्त्र, प्रमाणशास्त्र, हेतु विद्या, आन्वीक्षिकी आदि नामों से भी जाना जाता है।

न्याय दर्शन के अनुसार सोलह तत्वों के सम्यक् ज्ञान के द्वारा अपवर्ग या मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। ये तत्त्व हैं– 1. प्रमाण, 2. प्रमेय, 3. संशय, 4. प्रयोजन, 5. दृष्टांत, 6. सिद्धान्त, 7. अवयव, 8. तर्क, 9. निर्णय, 10. वाद, 11. जल्प, 12. वितण्डा, 13. हेत्वामास, 14. छल, 15. जाति तथा 16. निग्रह–स्थान।

इन तत्त्वों में प्रमाण और प्रमेय ही मुख्य हैं और अन्य सभी गौण है। किसी भी वस्तु के सम्यक् ज्ञान–प्राप्ति का साधन प्रमाण है। प्रमाण के चार प्रकार के माने गये हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द। इंद्रियों और उनके विषयों के माध्यम से प्राप्त होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष होता है, जैसे आँखों से देख कर किसी वस्तु का ज्ञान होना। प्रत्यक्ष ज्ञान के दो प्रकार हैं– वाह्य तथा मानस। जब ज्ञात वस्तु का सन्निकर्ष ऑख, कान आदि वाह्य इन्द्रियों से होता है वह वाह्य प्रत्यक्ष कहलाता है। मानस प्रत्यक्ष में ज्ञात वस्तु का संयोग केवल मन से होता है।

प्रत्यक्ष के पश्चात अनुमान की स्थिति आती है। किसी लिंग (हेतु) के ज्ञान से उस लिंग को धारण करने वाली वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना ''अनुमान' माना जाता है। यह मात्र इंद्रियों से ही नहीं होता है बल्कि ऐसे साधन से होता है जिसका साध्य या अनुमानित वस्तु से सम्बन्ध होता है। साधन और साध्य का यह संबंध व्याप्ति कहा गया है। इसमें कम से कम तीन वाक्य और अधिकतम तीन पद रहते हैं जिन्हें पक्ष, साध्य और साधन (लिंग) कहा जाता है। पक्ष के द्वारा लिंग या साधन के अस्तित्व के बारे में पता चलता है। किसी वस्तु के अस्तित्व को पक्ष में सिद्ध करने को साध्य कहा जाता है। साध्य के साथ जिसका नियत सम्बन्ध होता है उसे साधन कहते हैं। निम्न उदाहरण से इसे समझा जा सकता है–

'जंगल में आग है, क्योंकि उसमें धुआँ है। जहाँ धुआँ है वहाँ आग है।'

यहाँ जंगल में धुयें को देखकर यह ज्ञात होता है कि उसमें आग है क्योंकि यह पहले से ही ज्ञात होता है कि अग्नि और धुयें में व्याप्ति का संबंध होता है। यहाँ जंगल पक्ष, अग्नि साध्य और धुआँ साधन है। इस प्रकार पक्ष के संबंध में अनुमान किया जाता है, साध्य को पक्ष के संबंध में सिद्ध किया जाता है और साधन के माध्यम से पक्ष के संबंध में साध्य सिद्ध किया जाता है।

न्याय दर्शन का तीसरा प्रमाण उपमान है। उपमान समानता और तुलना है जिसकेत आधार पर एक वस्तु से दूसरी का ज्ञान प्राप्त होता है। चौथा और अंतिम प्रमाण शब्द है। वेद आदि प्रामाणिक ग्रन्थों से प्राप्त ज्ञान शब्द–प्रमाण द्वारा प्राप्त ज्ञान है।

जानने योग्य तत्त्वों को प्रमेय कहा गया है। न्याय दर्शन के अनुसार इनकी संख्या बारह है– 1. आत्मा, 2. शरीर, 3. इन्द्रिय, 4. अर्थ, 5. बुद्धि, 6. मन, 7. प्रवृत्ति, 8. दोष, 9. पुनर्जन्म, 10. फल, 11. दुःख तथा 12. अपवर्ग।

न्याय दर्शन में अनेकात्मवाद पर बल दिया गया है। इसके अनुसार भिन्न शरीरों की भिन्न–भिन्न आत्मायें होती है। आत्मा सर्वव्यापी, अनादि और अनन्त है। मन के साथ सम्बन्ध से आत्मा चैतन्यता को प्राप्त करती है। मन सूक्ष्म, नित्य और अविभाज्य है जो अणु रूप में स्थित है मन से ही आत्मा को ज्ञान व सुख दुःख की अनुभूति प्राप्त होती है। शरीर भी अन्य भौतिक पदार्थों की भांति परमाणुओं से निर्मित है। आत्मा का शरीर और मन के साथ संयुक्त होना ही दुःखों का कारण है। आत्मा के शरीर के बन्धन से मुक्त हो जाने पर ही मोक्ष सम्भव है। अपवर्ग या मोक्ष तत्वज्ञान अर्थात् सत्य के सम्यक् ज्ञान के द्वारा ही मिल सकता है। मोक्ष में दुःखों और कष्टों से छुटकारा मिल जाता है।

न्याय दर्शन में ईश्वर की सत्ता मानी गई है। ईश्वर को सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का आदि–कारण माना गया है। न्याय दर्शन की प्रमुख विशेषता उसकी तर्क पद्धति है जिसे अन्य दार्शनिक संपद्रायों ने ग्रहण किया।

बोध प्रश्न 1

1) निम्नलिखित कथनों को पढ़िये और उनके सामने सही (✓) अथवा गलत (X) का चिन्ह लगाइये :

(i) न्याय दर्शन के प्रवर्तक गौतम ऋषि माने गये हैं।

(ii) न्याय दर्शन के अनुसार मोक्ष प्राप्ति के लिये बारह तत्त्वों का ज्ञान आवश्यक है।

(iii) न्याय दर्शन में एकात्मवाद पर बल दिया गया है।

(iv) न्याय दर्शन के तत्वों में प्रमाण और प्रमेय प्रमुख हैं।

(v) प्रमेय की संख्या बारह है।

2. अपवर्ग या मोक्ष प्राप्ति के लिये आवश्यक न्याय दर्शन के तत्त्वों का विवेचन कीजिए।

9.4वैशेषिक

वैशेषिक दर्शन पद्धति के संस्थापक कणाद ऋषि माने जाते हैं। वैशेषिक दर्शन का मूल प्रामाणिक ग्रन्थ वैशेषिक–सूत्र है। इसकी रचना कणाद ऋषि के द्वारा की गई। प्रशस्तपाद ने 'पारार्थधर्म संग्रह' की रचना की जो वैशेषिक सूत्र पर टीका है। उदयन तथा श्रीधर ने भी टीकाओं की रचना की।

विशेष नामक पदार्थ की कल्पना और उसकी विस्तृत विवेचना करने के कारण इसे 'वैशेषिक' की संज्ञा दी गई है। इस ग्रन्थ के प्रणेता कणाद ने धर्म की व्याख्या को अपना मुख्य लक्ष्य माना है। इन्होंने धर्म की अभिव्यक्ति कर्म के माध्यम से न मानकर मानव की चित्तवृत्ति से माना है। कणाद के अनुसार यदि मनुष्य का अन्तःकरण शुद्ध नहीं है तो वहाँ विद्या का प्रकाश नहीं होता है। अन्तःकरण की शुद्धि धर्म से ही संभव है।

वैशेषिक मत में संसार की समस्त वस्तुयें सात पदार्थों में विभाजित की गई है। ऐसी वस्तुयें जिनके बारे में सोचा जा सकता है और जो नाम धारण कर सकती हैं वे पदार्थ कहलाती है। वैशेषिक दर्शन में पदार्थ दो प्रकार के बताये गये हैं– भाव और अभाव। भाव वे पदार्थ हैं जो विद्यमान हैं। इनके छः भेद हैं– 1. द्रव्य, 2. गुण, 3. कर्म, 4. सामान्य, 5. विशेष और, 6. समवाय। कालान्तर में इसमें 'अभाव' नामक सातवाँ पदार्थ और जोड़ दिया गया। इन पदार्थों के ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है। न्यायदर्शन की ही तरह वैशेषिक दर्शन में भी मोक्ष के लिये तत्त्वज्ञान का होना आवश्यक है। इन सातों पदार्थों के तत्त्वज्ञान का होना आवश्यक है। इन सातों पदार्थों के तत्त्वज्ञान से ही मोक्ष संभव है। मोक्ष की स्थिति में आत्मा बन्धन मुक्त होकर अपने शुद्ध रूप को प्राप्त कर लेती है।

वैशेषिक मत के अनुसार कार्य, उत्पत्ति से पूर्व कारण में विद्यमान नहीं रहता है बल्कि उसकी उत्पत्ति सदैव नवीन होती है। विश्व के समस्त कार्य द्रव्यों का निर्माण चार प्रकार के परमाणुओं पृथ्वी, जल, प्रकाश और वायु से होता है। इस मत के अनुसार परमाणु निष्क्रिय होते हैं। ईश्वर की सत्ता ही उन्हें गति प्रदान करती है। ये परमाणु गति का क्षोभ उत्पन्न होने से परस्पर संगठित होकर सृष्टि के सृजन की ओर उन्मुख होते हैं। अग्नि और पृथ्वी के परमाणुओं से हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति होती है। उसमें से आदि देव संपूर्ण विश्व को उत्पन्न करते हैं। वही उसके संचालक भी होते हें। वे सभी जीवों के उत्पत्तिकर्ता और कर्मों के अनुसार उन्हें फल प्रदान करने वाले हैं। सृष्टि के बाद प्रलय भी आदिदेव की इच्छा से होता है। जब आदिदेव जन्म–मृत्यु के चक्र से जीवों को विश्राम देना चाहते हैं तब जीव को आवागमन के चक्र में डालने वाले अदृष्ट अपने कार्य से विमुख हो जाते हैं। इसके फलस्वरूप परमाणु विघटित होने लगते हें। ऐसी दशा में शरीर एवं इन्द्रियों का विनाश हो जाता है। जीवात्मा जो नित्य और अविनाशी है तथा चार अन्य नित्य द्रव्य–दिक्, काल, आकाश व मन शेष रह जाते हैं। यह विश्रान्ति काल कहा जाता है। इसके पश्चात परमाणुओं के पुनः गतिमान होने पर सृष्टि–सृजन प्रारम्भ होता है। वैशेषिक

दर्शन के अनुसार बारी बारी से परमाणुओं के समूह बनाते और बिगड़ते रहते हैं जिससे विकास और विनाश का क्रम चलता रहता है। इस प्रकार सृष्टि का आरम्भ और प्रलय ईश्वर की इच्छा पर निर्भर करता है।

वैशेषिक मत में ज्ञान पर भी गहन विचार विमर्श किया गया है। इसमें अज्ञानता को ही बन्धन का मुख्य कारण माना गया है। आत्मा अज्ञानता के बन्धन में पड़कर नाना प्रकार के कर्म करती है। आत्मा के अच्छे बुरे कर्मों के आधार पर ही उसे सुःख और दुःख की प्राप्ति होती है। समस्त कार्यों का सम्पादन बन्द कर देने पर ही उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। आत्मा को मन और शरीर से भिन्न अपने शुद्ध स्वरूप का ज्ञान, हो जाता है। मुक्ति की अवस्था में दुःखों का अन्त हो जाता है। वैशेषिक मत में आत्मा का अन्त हो जाता है। वैशेषिक मत में आत्मा को द्रव्य माना गया है। ज्ञान आनन्द आदि उसके गुण हैं।

न्याय और वैशेषिक दोनों ही दर्शन ईश्वर और जीवात्माओं के अस्तित्व को मानते हैं। दोनों ने अपने परमाणुवाद का संबंध ईश्वर से स्थापित किया है। इस प्रकार इनके मत में आध्यात्मिकता के दर्शन होते हैं। इस दर्शन में भक्ति का अभाव है।

बोध प्रश्न–2

1) निम्नलिखित कथनों को पढ़िये और उनके सामने सही (✓) अथवा गलत (X) का चिन्ह लगाइये :

(i) वैशेषिक–सूत्र वैशेषिक दर्शन का मूल ग्रन्थ है।

(ii) वैशेषिक सूत्र की टीका 'पदार्थधर्मसंग्रह' की रचना उदयन ने की थी।

(iii) वैशेषिक नामक पदार्थ की कल्पना और विवेचना के कारण इस मत को वैशेषिक की संज्ञा दी गई।

(iv) वैशेषिक दर्शन में तीन प्रकार के पदार्थ बताये गये हैं।

(v) न्याय और वैशेषिक दोनों ही दर्शन ईश्वर और जीवात्माओं के अस्तित्व को मानते हैं।

(vi) यह दर्शन भक्ति प्रधान है।

3. वैशेषिक दर्शन के परमाणुवाद के सिद्धान्त पर प्रकाश डालिये।

9.5सांख्य दर्शन

सांख्य दर्शन का सबसे प्राचीन और प्रामाणिक ग्रन्थ सांख्यकारिका है जिसके रचयिता ईश्वरकृष्ण (दूसरी या पाँचवीं शताब्दी) थे। परंपरा के अनुसार सांख्य दर्शन के प्रवर्तक कपिल थे। गोविन्द चन्द्र पाण्डे के अनुसार सांख्य दर्शन की उत्पत्ति अवैदिक श्रमण विचारधारा से हुई थी। (Studies in the Origins of Buddhism, PP. 305)

'सत्कार्यवाद' सांख्य दर्शन का प्रधान आधार है। 'सत्कार्यवाद' से तात्पर्य है कि कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व कारण में विद्यमान रहता है। इस सिद्धान्त से सहमत न होने वाले सम्प्रदायों को असत्कार्यवादी कहा जाता है। बौद्ध, न्याय, वैशेषिक की गणना इनमें की जा सकती है। इन सम्प्रदायों का यह मानना है कि कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व कारण में विद्यमान नहीं रहता है बल्कि उसकी उत्पत्ति सर्वथा नवीन होती है। सत्कार्यवाद के दो भेद हैं– परिणामवाद तथा विवर्तवाद। परिणामवाद से तात्पर्य है कि कारण वास्तविक रूप में कार्य में परिवर्तित हो जाता है जैसे तिल तेल में, दूध दही में बदल जाता है। विवर्तवाद के अनुसार परिवर्तन वास्तविक नहीं होता है बल्कि आभास मात्र होता है जैसे रस्सी में सर्प का भ्रम हो जाता है।

सांख्य दर्शन में जड़ तत्व और चेतन तत्त्व दोनों समान और स्वतंत्र रूप से सत्य तत्त्व माने गये हैं। इस प्रकार सांख्य दर्शन द्वैतवादी है। प्रकृति को जड़ तत्त्व माना गया है और पुरुष को चेतन तत्त्व। प्रकृति और पुरुष (आत्मा) ही इस दर्शन के आधारभूत तत्त्व है। इनके संयोग से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है। प्रकृति ही सृष्टि का आदिकारण है। इसे 'प्रधान' तथा 'अव्यक्त' की संज्ञा दी गई हैं सत्त्व, रज और तम प्रकृति के तीन गुण माने गये हैं जो इसके अवयवभूत तत्त्व (Component Factors) है। प्रकृति इन तीन गुणों से मिलकर बनी होने पर भी इन पर आश्रित नहीं रहती है। सत्त्व प्रकाश व उल्लास, रज क्रियाशीलता या गति और तम मोह और अवरोध का सूचक है। समस्त सांसारिक वस्तुओं में ये तीनों गुण परिलक्षित होते हैं क्योंकि वे सभी प्रकृति से ही उद्भूत हुई हैं। सांख्य दर्शन में दूसरा प्रधान तत्त्व पुरुष (आत्मा) है। यह नित्य, सर्वव्यापी शुद्ध एवं चैतन्य है। प्रत्येक सृष्टि–काल के पश्चात प्रलय–काल आता है। प्रकृति के तीनों गुण इस समय भी एक दूसरे के प्रति क्रियाशील रहते हैं। प्रलय के बाद पुनः सृष्टि का आरंभ होता है।

प्रलयकाल में जब प्रकृति स्थिर रहती है तो पुरूष के सामीप्य से प्रकृति के गुणों में क्षोभ उत्पन्न होता है और प्रकृति का विकास आरम्भ हो जाता है। प्रकृति से विकसित होने वाले पदार्थ इस प्रकार हैं–

प्रकृति

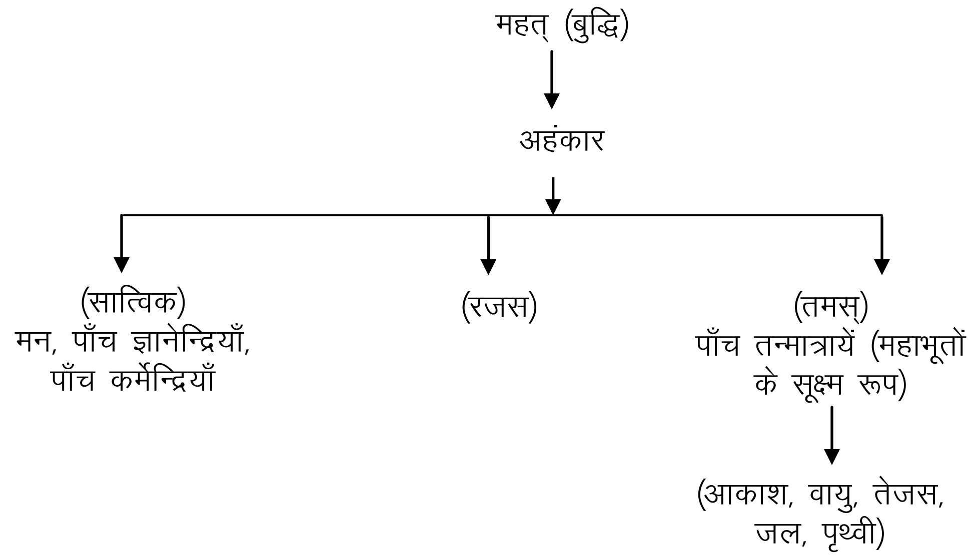

सर्वप्रथम प्रकृति से महत् या बुद्धि संसृत होती है। उससे अहंकार तत्व का उदय होता है। फिर सात्विक अहंकार से मन और इन्द्रियों का विकास होता है। तामस् अहंकार से पाँच तन्मात्रायें और पाँच महाभूत संसृत होते हैं। इस आरंभिक विकास में तेइस तत्व उत्पन्न होते हैं। पुरुष और प्रकृति को भी लेकर पच्चीस तत्त्व सांख्य दर्शन में माने गये हैं। महाभूतों के पश्चात जीव धारियों के भौतिक शरीर, वृक्ष, पर्वत आदि उद्‌भूत होते हैं। इस विकास का उद्‌देश्य पुरुष को भोग और फिर अन्त में मुक्ति प्राप्त कराना है। जब पुरुष प्रकृति के विकार, बुद्धि और अहंकार से अविवेक के वशीभूत होकर साम्य स्थापित कर लेता है तब वह स्वयं को कर्ता और भोक्ता समझने लगता है। इस प्रकार वह बन्धन में पड़ जाता है। नानाप्रकार के कर्मों को करते हुये वह दुःख और आवागमन के चक्र में पड़ा रहता है। पुरुष जब बन्धन में रहता है तब जीव कहलाता है।

अविवेक तथा अज्ञान ही बन्धन का कारण है जिससे दुःख उत्पन्न होते हैं। दुःख के तीन प्रकार बताये गये हैं–

- आध्यात्मिक दुःख – इसका तात्पर्य सभी प्रकार के मानसिक और शारीरिक दुःखों से है।
- अधिभौतिक दुःख– इसमें बाहरी भौतिक पदार्थों जैसे मनुष्य, पशु, पक्षियों द्वारा उत्पन्न दुःख आते हैं।
- अधिदैविक दुःख– इसमें अलौकिक कारणों से उत्पन्न दुःख आते हैं जैसे ग्रह पीड़ा आदि।

सांख्य दर्शन के अनुसार विवेक ज्ञान ही दुःखों से मुक्ति का एकमात्र उपाय है। विवेकज्ञान का अर्थ है पुरुष स्वयं को प्रकृति व उसके विकारों से अलग समझे और स्वयं को कर्ता और भोक्ता न माने। विवेकज्ञान की प्राप्ति होने पर कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है। इस अवस्था में पुरुष प्रकृति के विकारों से पृथक और तटस्थ हो जाता है। उसे सुःख और दुःख से मुक्ति मिल जाती है। यही अपवर्ग या मुक्ति की अवस्था है। सांख्य दर्शन में मुक्ति दो प्रकार की मानी गई है– (1) जीवन्मुक्ति– इसमें भौतिक शरीर का अस्तित्व बना रहता है। (2)

विदेहमुक्ति पुरुष जब बन्धन में रहता है तब जीव कहलाता है। प्रत्येक जीव का एक स्थूल और एक सूक्ष्म शरीर रहता है। इस स्थिति में स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीर से मुक्ति मिल जाती है।

पहले सांख्य मत ईश्वर की सत्ता को नहीं मानता था व अनीश्वरवादी था। पर योग और वेदान्त के प्रभाव से इसमें ईश्वर की भावना का समावेश हुआ और यह मत दिया गया कि ईश्वर के सान्निध्य से ही प्रकृति का विकास होता है।

बोध प्रश्न–3

1) निम्नलिखित कथनों में से कौन सा सही (✓) है और कौन सा गलत (X) निशान लगाइये :

   (i) सांख्यकारिका सांख्य दर्शन का प्राचीनतम ग्रन्थ है।

   (ii) सांख्य दर्शन के प्रवर्तक कणाद थे।

   (iii) प्रकृति और पुरुष (आत्मा) सांख्य दर्शन के आधारभूत तत्त्व हैं।

   (iv) सत्त्व, रज और तम पुरुष (आत्मा) के तीन गुण माने गये हैं।

   (v) जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति ये सांख्य दर्शन में मुक्ति के दो प्रकार हैं।

2) सांख्य दर्शन की विशिष्टताओं का परिचय दीजिये।

3) सांख्य दर्शन में प्रकृति व पुरुष की अवधारणा का विश्लेषण कीजिये।

9.6योग

योग दर्शन और सांख्य दर्शन में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। जहाँ सांख्य दर्शन में सैद्धान्तिक पक्ष की प्रधानता है वहीं योग सांख्य का व्यावहारिक पक्ष है। इसके प्रवर्तक महर्षि पतंजलि माने जाते हैं। पतंजलि ने संभवतः ईसा की दूसरी सदी में 'योगसूत्र' की रचना की। पतंजलि ने, शरीर, इन्द्रिय तथा मन पर नियंत्रण स्थापित करके पूर्णता प्राप्त करने के लिये किये गये आध्यात्मिक प्रयास को योग कहा है। योग दर्शन में सांख्य दर्शन द्वारा प्रतिपादित पच्चीस तत्त्वों के साथ ईश्वर के अस्तित्त्व को भी स्वीकार किया गया है। कैवल्य प्राप्ति के लिये जिन व्यावहारिक साधनाओं की आवश्यकता होती है उसका विवेचन पतंजलि के योग दर्शन में मिलता है।

योगसूत्र में चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहा गया है (योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः)। बुद्धि, अहंकार और मन को चित्त माना गया है। चित्त जड़ तत्त्व है परन्तु पुरुष (आत्मा) के समीप होने के कारण यह चैतन्य प्रतीत होता है। पुरुष शुद्ध चैतन्य स्वरूप है जिसमें प्रकृति की बाधा नहीं है। भ्रमवश पुरुष स्वयं को चित्त में अपने प्रतिबिम्ब के साथ स्थापित कर लेता है और इसमें परिवर्तन का आभास होने लगता है। पुरुष के द्वारा स्वयं को जब निरपेक्ष व

निष्क्रिय दृष्टा समझ लिया जाता है तब चित्त के प्रतिबिम्ब के साथ उसका सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है जिससे प्रतिबिम्ब समाप्त हो जाता है और चित्तवृत्ति रूक जाती है। चित्तवृत्ति का यह निरोध ही योग कहलाता है जिसमें पुरुष चैतन्य स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

चित्त की पाँच प्रकार की वृत्ति बताई गई हैं– प्रमाण (सत्य ज्ञान), विपर्दय (मिथ्या ज्ञान), विकल्प (कल्पना), निद्रा तथा स्मृति। पुरुष का भ्रमवश चित्त के विकारों के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेना ही बन्धन है। विवेक ज्ञान के उदय हो जाने पर पुरुष और प्रकृति के मध्य अंतर स्थापित हो जाता है। मुक्ति के लिये वैराग्य और योग (ध्यान) को आवश्यक माना गया है। इन्द्रिय जनित राग और आसक्ति पर विजय पाने के लिये आठ साधन बताये गये हैं जिन्हें 'अष्टांगयोग' कहा जाता है। इनमें यम और नियम का पालन आरम्भिक नैतिक साधना मानी गई है।

1. यम के पाँच अंग हैं–

   अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (संपत्ति का संचय न करना)।

2. नियम का तात्पर्य सदाचार से है। ये सांख्य में पाँच हैं– शौच (पवित्रता),. संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर की भक्ति करना।

   इसके पश्चात योग की मुख्य साधना का आरम्भ होता है।

3. आसन– यह शारीरिक अनुशासन है। इसके अंतर्गत विभिन्न शारीरिक क्रियायें आती हैं जैसे पद्मासन, शीर्षासन आदि।

4. प्राणायाम– इसमें श्वास पर नियंत्रण रखा जाता है। यह शरीर और मस्तिष्क के लिये लाभकारी होता है।

5. प्रत्याहार– इन्द्रियों पर नियंत्रण कर उन्हें विषयों से दूर करने की स्थिति है।

6. धारण– मन को किसी वस्तु पर केन्द्रित करना।

7. ध्यान– ध्येय विषय का निरंतर ध्यान व चिन्तन करना।

8. समाधि– इसका अर्थ है मन की एकाग्रता। धारण, ध्यान और समाधि ये उच्चतम साधनायें हैं। समाधि भी दो प्रकार की होती हैं– सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। पहली में बुद्धि की क्रियाशीलता बनी रहती है पर दूसरी में बुद्धि की क्रियाशीलता भी समाप्त हो जाती है। असम्प्रज्ञात समाधि से ही कैवल्य की प्राप्ति होती है।

योग की क्रियाओं से मनुष्य की शक्तियाँ व्यवस्थित हो जाती हैं और पुरुष तत्त्व पुनः स्थापित होता है। योग दर्शन में ईश्वर के महत्त्व को भी स्वीकार किया गया है। पतंजलि के अनुसार ईश्वर एक विशिष्ट पुरुष है जो

क्लेश, कर्म, परिणाम, आशय (सस्कार) आदि से प्रभावित नहीं रहता है (क्लेशकर्म, विपाकाशयैः अपरामृष्टः पुरूषविशेषः ईश्वरः 1. योगसूत्र)। योग की क्रियाओं को अन्य धार्मिक सम्प्रदायों ने भी अपनाया है।

बोध प्रश्न–4

1) निम्नलिखित कथनों में से कौन सा सही (✓) है और कौन सा गलत (X) निशान लगाइये :

(i) योग और सांख्य दर्शन परस्पर भिन्न हैं।

(ii) योग दर्शन के प्रवर्तक पतंजलि हैं।

(iii) अष्टांगयोग इंद्रियजनित राग और आसक्ति से मुक्ति के साधन हैं।

(iv) संतोष और तप यम के अंग हैं।

(v) आसन विभिन्न प्रकार की शारीरिक क्रियायें हैं।

(vi) समाधि का तात्पर्य निरंतर ध्यान और चिन्तन से है।

2) योग दर्शन की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिये।

9.7मीमांसा

मीमांसा को पूर्व मीमांसा भी कहा जाता है। वेद के दो भाग हैं प्रथम कर्मकाण्ड और द्वितीय ज्ञानकाण्ड। कर्मकाण्ड के अन्तर्गत यज्ञों की विधियों और अनुष्ठानों का विवरण है। उपनिषदों में ज्ञानकाण्ड का प्रतिपादन है। इसमें जगत, आत्मा, ईश्वर, सृष्टि का निरूपण और उनके पारस्परिक संबंधों को स्पष्ट किया गया है। उपनिषद् तथा वेदान्त उत्तर मीमांसा कहे जाते हैं।

पूर्व मीमांसा दर्शन पद्धति के प्रणेता जैमिनी हैं। इन्होंने 'मीमांसा सूत्र' नामक ग्रन्थ की रचना की। इसमें वैदिक कर्म–काण्ड की व्याख्या मिलती है। शबर स्वामी ने इस पर टीका लिखी है। कुमारिल भट्ट तथा प्रभाकर भी इस मत के प्रसिद्ध दार्शनिक हैं। जैमिनी ने वैदिक देवताओं की सत्यता को माना है परन्तु उनके ईश्वर संबंधी विचार स्पष्ट नहीं हैं। आत्मा को नित्य एवं शाश्वत तत्त्व माना गया है पर चैतन्य को उसका नित्य लक्षण नहीं माना है। आत्मा में चैतन्य गुण की उत्पत्ति शरीर से उसके संयुक्त होने और बाह्य पदार्थों की निकटता से होती है। मीमांसा दर्शन में छः प्रमाण (सम्यक् ज्ञान के साधन) माने गये हैं। वे इस प्रकार हैं– (1) प्रत्यक्ष (2) अनुमान (3) शब्द, (4) उपमान (5) अर्थापत्ति तथा (6) अनुपलब्धि। इस मत में कर्म का सिद्धान्त नैतिक सिद्धान्त है। कर्म के अनुसार सृष्टि की रचना होती है। मनुष्य जब कर्म करता है तब आत्मा में एक अदृश्य शक्ति उत्पन्न होती है जिसे 'अपूर्व' कहा गया है। यह 'अपूर्व' भविष्य में व्यक्ति को उसके कर्म का फल प्रदान कराता है। इस प्रकार

कर्म के फल का संचालन 'अपूर्व' ही करता है। मीमांसा शास्त्र के अनुसार मनुष्य को अपने अभ्युत्थान के लिये नित्य, नैमित्तिक यज्ञादि कर्म करने चाहिये। नित्य कर्म प्रतिदिन किये जाते थे जैसे संध्या आदि। नैमित्तिक कर्म विशिष्ट अवसरों पर किये जाते थे। इन कर्मों को विधिवत् करने से मुक्ति प्राप्त हो सकती है। प्रारम्भिक मीमांसक, धर्म में अधिक विश्वास करते थे। अतः आरंभ में अन्य दर्शनों की भाँति यहाँ मुक्ति की भावना नहीं थी। यहाँ मुक्ति का अर्थ स्वर्ग प्राप्ति से था। यहाँ आत्मा अपने शुभ कर्मों का फल भोगता था। बाद के मीमांसकों ने स्वर्ग के स्थान पर अपवर्ग (मोक्ष) को प्रधानता दी।

मीमांसा–शास्त्र वस्तुवादी अर्थात यथार्थवादी है। इसमें भौतिक जगत की संत्ता को स्वीकार किया गया है। इसके अनुसार वेद मंत्र देव स्वरूप है।

9.8वेदान्त या उत्तर मीमांसा

वेदान्त या उत्तर मीमांसा वेदों का द्वितीय भाग है जो ज्ञानमार्ग से सम्बन्धित है। उपनिषद्, भगवद्गीता और बादरायण का वेदान्तसूत्र तीनों वेदान्त दर्शन के आधार हैं। दार्शनिकों और आचार्यों ने इनके सन्दर्भ में अपने अलग–अलग विचार व्यक्त किये। इन्हीं के आधार पर वेदान्त की विभिन्न शाखाओं का विकास हुआ। सामान्यतः इसकी दो शाखायें मानी जाती हैं–

1. अद्वैतवादी– इसमें परम ब्रह्म को निर्गुण तत्त्व के रूप में माना गया है। इस धारा के अग्रणी दार्शनिक शंकराचार्य हैं।
2. द्वैतवाद (ईशवरवाद)– इसमें ब्रह्म को सगुण ईश्वर के रूप में माना गया है। द्वैतवाद की परम्परा में रामानुज और मध्य प्रमुख आचार्य हैं। इनके मत को क्रमशः विशिष्टाद्वैत और द्वैत कहा जाता है।

बोध प्रश्न–5

1) निम्नलिखित कथनों में से कौन सा सही (✓) है और कौन सा गलत (X) निशान लगाइये :

   (i) पूर्व मीमांसा दर्शन पद्धति के प्रवर्तक गौतम हैं।

   (ii) वेद के दो भाग हैं प्रथम कर्मकाण्ड व द्वितीय ज्ञानकाण्ड।

   (iii) उपनिषद या वेदान्त उत्तर मीमांसा कहे जाते हैं।

   (iv) मीमांसा सूत्र में ज्ञान–मार्ग का प्रतिपादन मिलता है।

   (v) मीमांसा दर्शन में सम्यक् ज्ञान के आठ साधन माने गये हैं।

(vi) अद्वैतवाद और द्वैतवाद वेदान्त दर्शन की दो मुख्य धारायें हैं।

2) मीमांसा दर्शन पद्धति के प्रमुख तत्त्वों का विवेचन कीजिये।

9.9सारांश

इस इकाई में आपने भारतीय दर्शन के इतिहास के विषय में जानकारी प्राप्त की। वैदिक काल से ही दर्शन के बीज प्रस्फुटित होने लगे थे। आर्यों के दार्शनिक विचारों का विशद वर्णन उपनिषदों में मिलता है। कालान्तर में भारतीय दर्शन की दो प्रमुख धारायें मिलती हैं– वैदिक और अवैदिक। प्रस्तुत इकाई में वैदिक शाखा से विकसित छः दार्शनिक विचारधाराओं का अध्ययन आपने किया। इन्हें षड्दर्शन की संज्ञा भी दी गई है। ये हैं– न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और वेदान्त या उत्तर मीमांसा।

न्याय दर्शन जिसके प्रवर्तक गौतम ऋषि थे। 'न्याय सूत्र' नामक ग्रन्थ में इन्होंने न्याय दर्शन के दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन किया है। न्याय दर्शन में सोलह तत्त्वों के ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति मानी गई है। इस दर्शन की विशेषता इसकी तर्क पद्धति है। वैशेषिक मत और न्याय दर्शन में कुछ दार्शनिक विचार समान थे। दोनों दर्शन ईश्वर और जीवात्मा के अस्तित्व को मानते हैं। दोनों ने परमाणुओं का सम्बन्ध ईश्वर से स्थापित किया है। इन मत में आध्यात्मिकता के दर्शन होते हैं। सांख्य दर्शन के प्रवर्तक कपिल थे। ईश्वर कृष्ण रचित सांख्यकारिका में इसके दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन मिलता है। प्रकृति और पुरूष सांख्य दर्शन के आधारभूत तत्त्व माने गये। इनके संयोग से ही सृष्टि का सृजन होता है। सांख्य तथा योग दर्शन एक दूसरे से संबंधित माने गये हैं। सांख्य दर्शन में सैद्धान्तिक पक्ष प्रधान है और योग सांख्य का व्यावहारिक पक्ष है। पतंजलि ने पूर्णता प्राप्त करने के लिये शरीर, इंद्रिय और मन को नियंत्रित करके किये जाने वाले आध्यात्मिक प्रयास को योग कहा है। मीमांसा या पूर्व मीमांसा दर्शन पद्धति के प्रवर्तक जैमिनी थे। इसमें वैदिक कर्मकाण्ड की व्याख्या मिलती है। उपनिषद् तथा वेदान्त उत्तर मीमांसा कहे जाते हैं।

9.10 शब्दावली

अवैदिक – जो वैदिक नहीं है।

बहुदेववाद – एक से अधिक देवों की उपासना

हिरण्यगर्भ – सृष्टि का आरंभिक स्रोत

अनीश्वरवादी – ईश्वर की सत्ता को न मानने वाले

चैतन्य – सचेत

9.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न–1

(i)- ✓, (ii) X, (iii) X, (iv) ✓, (v) ✓

2) भाग 9.3 देखें–

बोध प्रश्न–2

1. (i) ✓, (ii) X, (iii) ✓, (iv) X, (v) ✓, (vi) X

2. भाग 9.4 में अनुच्व्देद–4 देखें

बोध प्रश्न–3

1. (i) ✓, (ii) X, (iii) ✓, (iv) X, (v) ✓

2. भाग 9.5 देखें

3. भाग 9.5 के अनुच्छेद 3, 4 व 5 देखें।

बोध प्रश्न–4

1. (i) X, (ii) ✓, (iii) ✓, (iv) X, (v) ✓, (vi) X

2. भाग 9.6 देखें

बोध प्रश्न–5

1. (i) X, (ii) ✓, (iii) ✓, (iv) X, (v) X, (vi) ✓

2. भाग 9.7 देखें

9.12 सहायक ग्रन्थ

- डॉ0 राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, भाग–2
- सिंह उपिंदर, प्राचीन एवं पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास
- पाण्डे, गोविन्द चन्द्र, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास
- बाशम, ए0एल0, अद्भुत भारत

इकाई–10 शंकराचार्य का दर्शन

इकाई की रूपरेखा

10.0 प्रस्तावना
10.1 उद्देश्य
10.2 शंकराचार्य का आरम्भिक जीवन
10.3 अद्वैतवाद
10.4 माया का सिद्धान्त
10.5 सारांश
10.6 शब्दावली
10.7 बोध प्रश्न
10.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

10.0 प्रस्तावना

प्राचीन भारत के प्रभावशाली दार्शनिकों एवं धर्माचार्यों की श्रृंखला में शंकराचार्य सर्वाधिक प्रसिद्ध विचारक थे। प्रस्तुत इकाई में पूर्व मध्यकालीन भारत में शंकराचार्य के आविर्भाव का काल तथा बाल्यकाल से ही उनकी विशिष्ट उपलब्धियों पर प्रकाश डाला गया है। अल्पायु में ही सन्यास ग्रहण करने के उपरान्त उन्होंने अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय देते हुये विविध शास्त्रों का कम समय में ही अध्ययन पूर्ण कर लिया। अपने ज्ञान के प्रसार के लिये शंकर भारत के विभिन्न स्थलों पर भ्रमण करते रहे। तत्कालीन प्रसिद्ध दार्शनिकों के साथ वाद विवाद एवं शास्त्रार्थ में भाग भी लिया। हिन्दू धर्म के प्रचार और प्रसार के साथ ही उन्होंने सुधार आन्दोलनों का भी आरम्भ किया। शंकर ने देश की चारों दिशाओं में चार मठों की स्थापना की।

शंकर का सिद्धान्त अद्वैतवाद के नाम से जाना जाता है। उपनिषदों अथवा वेदान्त में वर्णित वैदिक धर्म जिसका महत्त्व क्षीण हो रहा था उसे एक क्रमबद्ध दर्शन के रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय शंकराचार्य को ही है। इस अध्याय में शंकर द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक सिद्धान्तों पर भी प्रकाश डाला गया है। शंकराचार्य द्वारा विरचित ग्रन्थ कौन से थे इनका उल्लेख भी इस इकाई में मिलेगा।

10.1 उद्‌देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरांत आप यह जान पायेंगे–

- पूर्व मध्यकाल में प्रचलित विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं में सर्वाधिक प्रभावशाली दार्शनिक विचारधारा शंकर की थी।
- शंकराचार्य का जन्म और बाल्यावस्था के बारे में।
- अल्पायु में ही सन्यास धारण कर शंकर ने वेद और शास्त्रों के अध्ययन के पश्चात और अधिक ज्ञान प्राप्ति के उद्‌देश्य से भारत में भ्रमण करते हुये विभिन्न मठों की स्थापना की। इस संदर्भ में विस्तृत जानकारी प्राप्त करेंगे।
- शंकर के मत अद्वैतवाद के बारे में जानेंगे।
- शंकर के मायावाद के सिद्धान्त के विषय में।
- शंकराचार्य द्वारा रचित ग्रन्थों की जानकारी प्राप्त करेंगे।
- दशनामी संप्रदाय की स्थापना।

10.2 शंकराचार्य का आरम्भिक जीवन

श्री शंकराचार्य प्राचीन भारत के महान धर्माचार्य एवं दार्शनिक थे। उनके आविर्भाव के काल के बारे में विद्वानों ने अनेक मत प्रस्तुत किये हैं। प्रो0 गोविन्द चन्द्र पाण्डेय ने शंकराचार्य का जन्म लगभग 788–820 ई0 के मध्य माना है। अधिकांश विद्वान इस मत से सहमत हैं। शंकराचार्य का जन्म केरल प्रान्त में पूर्णा नदी के तट पर स्थित कालटी नामक ग्राम में हुआ था। उनके पिता का नाम शिव गुरू था जो नम्बूदिरी ब्राह्मण थे और माता का नाम सती या आर्यम्बा था। बाल्यकाल में ही उनके पिता का देहान्त हो गया। माता ने ही उनका पालन पोषण किया। शंकर विलक्षण प्रतिभा के धनी थे। तीन वर्ष की आयु में ही उन्होंने अपनी मातृभाषा मलयालम अच्छी तरह से सीख ली थी। शंकर की माता ने पाँच वर्ष की आयु में उनका उपनयन संस्कार करवाया और शिक्षा–प्राप्ति के लिये गुरूकुल भेजा। गुरूकुल में उन्होंने अपनी कुशाग्र मेधा का परिचय दिया और मात्र दो वर्षों में ही उन्होंने समस्त शास्त्रों का अध्ययन पूर्ण कर लिया। सात वर्ष की आयु में घर वापस आकर शिष्यों को शिक्षा देने लगे। एक शिक्षक के रूप में उनकी विद्वता की ख्याति दूर–दूर तक फैल गई। तत्कालीन नरेश ने उनकी विद्वता से प्रभावित होकर अपने मंत्रियों को बहुमूल्य उपहारों के साथ शंकर को अपने दरबार में आमंत्रित करने के लिये भेजा। परंतु शंकर ने उपहारों व निमंत्रण को स्वीकार नहीं किया। इसके पश्चात राजा ने स्वयं शंकराचार्य के ग्राम कालटी जाकर उनसे भेंट की। आठ वर्ष की अल्पायु में ही उन्होंने अपनी माता से सन्यास ग्रहण करने की आज्ञा ली। माता को वचन दिया कि वे उनके अन्तिम समय में घर अवश्य आयेंगे और स्वयं उनका अन्तिम संस्कार करेंगे।

घर छोड़ने के पश्चात शंकराचार्य नर्मदा नदी के तट पर पहुँचे। यहाँ पर उन्होंने गोविन्द भगवत्पाद से सन्यास की दीक्षा ली। गुरू गोविन्द भगवत्पाद से उन्होंने समस्त शास्त्रों की शिक्षा ग्रहण की। शीघ्र ही शंकर सिद्ध आचार्य हो गये। गुरू से आज्ञा प्राप्त कर शंकर काशी आ गये। काशी में आकर उन्होंने भगवान शंकर की आराधना करने के साथ ही अपने ज्ञान का प्रचार करना आरम्भ किया। उनकी विद्वता की ख्याति फैलने लगी। बारह वर्ष की अल्पायु में ही बहुत से लोग उनके शिष्य बन गये। ऐसा कहा जाता है कि काशी में स्वयं भगवान शंकर ने चाण्डाल वेश में शंकर की परीक्षा ली और उन्हें अद्वैत मत का ज्ञान प्रदान किया। परंपरा के अनुसार भगवान शिव ने स्वयं प्रकट होकर शंकर को 'ब्रह्मसूत्र' पर भाष्य की रचना करने का आदेश दिया।

शंकर ने और अधिक ज्ञान प्राप्त करने के उद्‌देश्य से भारत के विभिन्न तीर्थस्थलों का भ्रमण किया। काशी से अपने शिष्यों के साथ शंकर बदरिकाश्रम गये। जनसाधारण को उन्होंने मंत्र साधना, नरबलि जैसी कुप्रथाओं को छोड़ने के लिए प्रेरित किया और अद्वैत दर्शन को समझाया। बदरिकाश्रम में शंकर ने ज्योतिर्मठ की स्थापना की। बदरिकाश्रम से चलकर शंकराचार्य कश्मीर स्थित श्रीनगर पहुँचे वहाँ आचार्यों के साथ शास्त्रार्थ करके स्वरचित भाष्य को प्रमाणित करवाया। कश्मीर से वे पुनः लौट कर बदरिकाश्रम आये और यहाँ रहते हुये उन्होंने अनेक

ग्रन्थों पर भाष्यों की रचना की। इसके पश्चात वे प्रयाग पहुँचे और यहाँ उनकी भेंट प्रख्यात दार्शनिक कुमारिल भट्ट से हुई। आचार्य कुमारिल भट्ट ने शंकर के वैदुष्य से प्रभावित हो कर उनके सिद्धान्तों को स्वीकार किया और मण्डन मिश्र से संपर्क करने का आग्रह किया। मण्डन मिश्र वैदिक विचारधारा के अग्रणी विद्वान थे। उनकी पत्नी भी अत्यन्त विदुषी थीं। नर्मदा नदी के तट पर माहिष्मती में शंकरार्य का मंण्डन मिश्र और उनकी पत्नी के साथ शास्त्रार्थ हुआ था जिसमें मण्डन मिश्र और उनकी पत्नी ने पराजय स्वीकार कर ली थी। इसके पश्चात शंकर ने मंडन मिश्र और उनकी पत्नी को सन्यास धर्म में दीक्षा दी। शंकर ने शैव और कापालिक आचार्यों को भी शास्त्रार्थ में परास्त किया। दक्षिण में तुंगभद्रा नदी के तट पर श्रृंगेरी मठ की स्थापना करके शंकराचार्य ने मठ के प्रथम सर्वोच्च आचार्य का पद (शंकराचार्य) मंडन मिश्र को प्रदान किया।

श्रृंगेरी मठ से शंकराचार्य अपने जन्म स्थान केरल आये और यहाँ अपनी माता की मृत्यु के उपरान्त उनका अन्तिम संस्कार किया। इसके पश्चात वे उड़ीसा में जगन्नाथपुरी गये और वहाँ गोवर्द्धन–मठ की स्थापना की। पद्मपादाचार्य को मठ का प्रधान आचार्य (शंकराचार्य) नियुक्त किया। शंकर ने दक्षिण भारत में जैन, बौद्ध, शाक्त, कापालिक संपद्रायों में व्याप्त कुरीतियों को दूर करने का प्रयास किया। इसके पश्चात गुजरात के द्वारका में शारदामठ को स्थापित किया। उन्होंने असम के कामरूप में जा कर वहॉ के शाक्त धर्म के अनुयायी और तांत्रिकों के साथ शास्त्रार्थ किया और अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों से परिचित करवाया। पुनः शंकर ने बदरिकाश्रम जाकर वहाँ ज्योतिर्मठ की स्थापना की और त्रोकटाचार्य को प्रधान आचार्य (शंकराचार्य) के पद पर नियुक्त किया। हिमालय में केदारनाथ की यात्रा के समय ही 32 वर्ष की अवस्था में उन्होंने शरीर त्याग दिया। उनकी मृत्यु का समय 820 ई0 के लगभग माना गया है।

श्री शंकराचार्य ने हिन्दू धर्म के उत्थान के लिये महत्वपूर्ण कार्य किये। उस समय हिन्दू धर्म के प्रचार और प्रसार से बौद्ध धर्म पतन की ओर अग्रसर हुआ।

10.3 शंकर का अद्वैत वेदान्त

शंकराचार्य इस देश के महान विचारकों में हैं। जिस समय जैन बौद्ध, शाक्त और कपालिकों के विचारों से जनता भ्रमित थी उस समय शंकराचार्य ने वैदिक धर्म एवं वेदान्त दर्शन को पुनः स्थापित किया। उन्होंने ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् एवं गीता पर भाष्यों की रचना की। विवेक चूड़ामणि, प्रबोध सुधाकर, अपरोक्षानुभूति, आनन्दलहरी आदि अनेक ग्रन्थों की रचना उनके द्वारा की गई।

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' यही शंकर के अद्वैत वेदान्त का सार है। इसका अर्थ है केवल ब्रह्म ही परम सत्य है। ये जगत मिथ्या है। जीव (आत्मा) तथा ब्रह्म में भेद नहीं है। ब्रह्म निराकार, निर्विकार, सर्वव्यापी, अविनाशी व चैतन्य स्वरूप है। शंकर के अनुसार ब्रह्म के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। आत्मा के अस्तित्व से ही ब्रह्म की सत्ता भी सिद्ध हो जाती है। ब्रह्म को सच्चिदानन्द स्वरूप कहा गया है अर्थात वह सत्य, चैतन्य व आनन्दमय है। वह रूप, गुण तथा कार्य–कारण सम्बन्ध से परे हैं।

वह अनिर्वचनीय है। जिस प्रकार अंधकार में रस्सी में सर्प का भ्रम होता है उसी प्रकार अज्ञानतावश ब्रह्म या आत्मा में जगत का आभास हो जाता है। जिस प्रकार रस्सी ही सत्य है और सर्प मिथ्याभास है उसी प्रकार ब्रह्म ही सत्य है और जगत मिथ्या भ्रांति है। ब्रह्म केवल जगत ही नहीं बल्कि जीव के रूप में भी प्रतिभासित होता है। ब्रह्म पर जगत का आरोप पूर्णतः मिथ्या है परन्तु ब्रह्म में जीव का आभास होना पूर्णरूपेण मिथ्या नहीं है। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से आवृत्त होने के कारण ही ब्रह्म जीव के रूप में प्रतीत होता है। अज्ञानता व अविद्या का आवरण हटा दिये जाने पर ब्रह्म या आत्मा का वास्तविक स्वरूप प्रगट हो जाता है। आत्मा ब्रह्म से पूर्णतया अभिन्न है (आत्मा एवं ब्रह्म)। अतः शंकर के अनुसार स्वयं ब्रह्म ही मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार के आवरण के कारण जीव के रूप में आभासित होता है।

10.4 माया का सिद्धान्त

शंकर के अद्वैत मत में माया के सिद्धान्त का महत्वपूर्ण स्थान है। शंकर ने माया को ही जगत की भ्रांति होने और जीव का आभास होने का मुख्य कारण माना है। उन्होंने प्रकृति को भी माया ही कहा है। माया को त्रिगुणात्मिका अर्थात् सत्, रज और तम इन तीनों गुणों से युक्त माना है। इन्हीं के कारण संसार में विविधता दिखाई पड़ती है (अन्यक्तनाम्नौ परमेशशक्तिः, अनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा। कार्यानुमेया सुधियैव माया, यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते।। शंकर भाष्य)। शंकर ने माया की दो शक्तियाँ मानी हैं– आवरण तथा विक्षेप। माया की आवरण शक्ति सत्य को आवृत्त कर लेती है जिसके कारण जीव यह भूल जाता है कि ब्रह्म और जीव एक ही हैं। शंकर ने माया और अविद्या को समान माना है। जीव के साथ माया अविद्या के रूप में रहती है। माया की ही शक्ति के द्वारा ब्रह्म ईश्वर तथा आत्मा जीव बन जाती है। इसके द्वारा नाम, रूप से युक्त जगत का प्रसार होता है।

शंकर ने सत्य की तीन कोटियाँ स्वीकार की हैं। बौद्ध दर्शन के शून्यवाद और विज्ञानवाद में भी सत्य की कोटियाँ थी। शंकर के गुरू गौड़पाद ने इन्हें ग्रहण किया। शंकर ने भी इन्हें स्वीकार किया। सत्य की ये तीन कोटियाँ हैं–

1. **प्रातिभासिक सत्ता**–किसी वस्तु में मिथ्या या भ्रांतिपूर्ण आभास होना। जैसे रस्सी से सर्प का भ्रम होना।
2. **व्यावहारिक सत्ता**–कार्य व कारण के नियम से चलने वाले जगत के भौतिक पदार्थ, जीव और संसार की दृश्यमान वस्तुयें इसी के अन्तर्गत आती हैं।
3. **पारमार्थिक सत्ता**–परम सत्य अर्थात यही ब्रह्म या आत्मा है।

पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म ही सत्य है और अन्य सभी उसकी मिथ्या प्रतीति हैं। व्यावहारिक दृष्टि से संसार की विविधता व जीव भी सत्य है। संसार की सृष्टि करने वाले और नियामक, ईश्वर की भी सत्ता है। निर्गुण ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। यह संसार भी न तो असत्य है और न ही सत्य है। जीव स्वयं ब्रह्म ही है परन्तु अविद्या (माया) के आवरण के कारण, प्रतिभासित होने वाली भौतिकता से जीव का तादात्म्य हो जाता है। वह नाना प्रकार

के कर्म करने लगता है और कर्म, दुःख व आवागमन के बन्धन में पड़ जाता है। तत्त्वज्ञान के द्वारा ही इनसे मुक्ति संभव हो पाती है। तत्त्वज्ञान का अर्थ है, जीव के स्वरूप और ब्रह्म से उसके तादात्म्य को समझना। तादात्म्य का साक्षात् कर लेने पर मुक्ति संभव है। मुक्ति की अवस्था में आत्मा ब्रह्म हो जाती है। शंकर के दार्शनिक संपद्राय में जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष माना गया है।

शंकर ने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये व्यावहारिक संयम पर जोर दिया। इसमें वैराग्य की भावना, अहंकार न करना, निष्काम कर्म, वेदान्त की शिक्षा ग्रहण करना, चिन्तन और सत्य का ध्यान ये प्रमुख हैं। शंकर के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान–मार्ग के द्वारा ही संभव है। शंकर ने भक्ति–मार्ग को अधिक महत्त्व नहीं दिया। शंकर के ऊपर बौद्ध मत के प्रभाव के संदर्भ में सभी विद्वान एकमत नहीं हैं। बहुत से विद्वान इस पर शून्यवाद का प्रभाव देखते हैं।

सर्वप्रथम आदि शंकराचार्य के चार शिष्य पद्मपाद, हस्तमालक, सुरेश्वर (मण्डन मिश्र) तथा त्रोटक, शंकराचार्य के नाम सहित पीठाधीश्वर नियुक्त हुये। इसके पश्चात इनके दस शिष्य हुये जिनके नाम से शंकर के अनुयायी सन्यासियों के दस सम्प्रदाय बन गये जो 'दशनामी संपद्राय' या दशनामी अखाड़ा के नाम से जाने जाते हें। शंकराचार्य द्वारा स्थापित श्रृंगेरी मठ, शारदा मठ, गोवर्द्धन मठ, और ज्योतिर्मठ से ये दशनामी सन्यासी जुड़े रहते हैं। इन चारों मठों के मठाधीश शंकराचार्य ही कहे जाते हैं।

10.5 सारांश

प्रस्तुत इकाई में पूर्व मध्यकालीन भारत में शंकराचार्य के उद्भव और उनकी दार्शनिक विचारधारा पर प्रकाश डाला गया है। शंकर बाल्यकाल से ही विलक्षण प्रतिभा के धनी थे। अल्पायु में ही सन्यास ग्रहण करने के उपरान्त उन्होंने ज्ञान–प्राप्ति के लिये भारत में कई स्थानों का भ्रमण किया। उन्होंने गुरू गोविन्द भगवत्पाद से शिक्षा ग्रहण की। उसके पश्चात उन्होंने अपने ज्ञान का प्रसार करना आरम्भ किया। उनका मत 'अद्वैतवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। उन्होंने हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता को स्थापित किया। हिन्दू धर्म में व्याप्त अंधविश्वास और कर्मकांडों को दूर कर के उसके दार्शनिक पक्ष को सुदृढ़ आधार प्रदान किया।

शंकर के अद्वैत वेदान्त की चर्चा भी यहाँ की गई है। एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है। ये जगत मिथ्या है। जीव और ब्रह्म एक ही हैं। मन, बुद्धि, अहंकार से आवृत्त हो जाने पर ब्रह्म जीव के रूप में प्रतीत होता है। अज्ञानता या अविद्या का आवरण हटा देने पर ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। शंकर ने माया के सिद्धान्त का भी प्रतिपादन किया। जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष माना गया। मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान–मार्ग के द्वारा ही संभव है। शंकराचार्य ने काशी, श्रीनगर, असम, केदारनाथ, गुजरात, दक्षिण भारत आदि के तीर्थस्थलों का भ्रमण किया और अपने ज्ञान का प्रचार किया। उन्होंने दक्षिण में श्रृंगेरी मठ, जगन्नाथपुरी में गोवर्द्धन मठ, गुजरात के द्वारकापुरी में शारदामठ तथा बदरिकाश्रम में ज्योतिर्मठ की स्थापना की। हिन्दू धर्म की रक्षा में इन मठों व सन्यासियों का बड़ा योगदान रहा है।

बोध प्रश्न–1

निम्नलिखित कथनों में से कौन सा कथन सही है (✓) और कौन सा गलत (X) निशान लगाइये।

i. श्री शंकराचार्य का जन्म मैसूर में हुआ था।

ii. शंकराचार्य ने गोविन्द भगवत्पाद से सन्यास की दीक्षा ली।

iii. श्री शंकराचार्य मण्डन मिश्र व उनकी पत्नी के साथ शास्त्रार्थ में परास्त हो गये थे।

iv. बदरिकाश्रम में शंकर ने शारदामठ की स्थाना की।

v. शंकर के अनुसार ब्रह्म सत्य है और जगत मिथ्या है।

बोध प्रश्न–2

i. बाल्यावस्था में शंकर की विशिष्ट उपलब्धियों पर प्रकाश डालिये।

ii. शंकर के अद्वैत वेदान्त दर्शन की समीक्षा कीजिये।

iii. शंकर के मायावाद के सिद्धान्त का विश्लेषण कीजिये।

10.6 शब्दावली

अनिर्वचनीय – जिसका वर्णन न हो सके।

मिथ्याभास – गलत प्रतीत होना

प्रतिभासित – मिथ्या ज्ञान या भ्रम

नियामक – नियम बनाने वाला

10.7 बोध प्रश्न के उत्तर

बोध प्रश्न–1

i (x), ii (✓), iii (x), iv (x), v (✓)

बोध प्रश्न–2

i. अनुच्छेद– 10.2 का अवलोकन करें

ii. अनुच्छेद– 10.3 देखें

iii. अनुच्छेद– 10.4 दखें।

10.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ0 राधाकृष्णन– भारतीय दर्शन

2. सिंह, उपिंदर– प्राचीन एवं पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास

3. दुबे, एच0एन0– भारतीय संस्कृति

इकाई 11–बौद्ध धर्म–बौद्ध धर्म की उत्पत्ति, बुद्ध का जीवन और शिक्षायें,बौद्ध संगीति

इकाई की रूपरेखा

11.0 प्रस्तावना

11.1 उद्देश्य

11.2 बौद्ध धर्म की उत्पत्ति

11.3 बुद्ध का जीवन और शिक्षाएं

11.4 बौद्ध संगीतियाँ

11.5 सारांश

11.6 शब्दावली

11.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

11.8 सहायक ग्रन्थ

11.0 प्रस्तावना

छठी शताब्दी ईसा पूर्व के काल में समाज में बढ़ रही अव्यवस्था से लोगों में असंतोष बढ़ने लगा थां विभिन्न वर्णों के लिये निर्धारित किये गये नियमों में असमानता थीं। स्त्रियों के अधिकार भी सीमित हो रहे थे। समाज में ऊँच–नीच का भेदभाव बढ़ रहा था। वैदिक धर्म में भी यज्ञों की जटिलता बढ़ रही थी। वे पूर्व की भाँति सरल नहीं रह गये थे। जटिल कर्मकाण्डों और अत्यधिक खर्चीले होने के कारण इनका आयोजन साधारण व्यक्ति की शक्ति के बाहर हो गया था। तंत्र मंत्र और अंधविश्वास के प्रभाव के कारण लोगों की रूचि ब्राह्मण धर्म में कम होने लगी थी। उन्हें तर्कपूर्ण, व्यावहारिक और सरल आचार विचार की आवश्यकता थी। ऐसी स्थिति में बुद्ध की सरल विचारधारा से लोग प्रभावित हुये। इस इकाई में सबसे पहले बौद्ध धर्म उदय की पृष्ठभूमि तैयार करने वाले कारणों की विवेचना की गई है।

गौतम बुद्ध के जीवनवृत्त का वर्णन है। ज्ञान–प्राप्ति के पश्चात मनुष्य के दुःख उनके कारण और उनके समाधान को बताते हुये बुद्ध ने अपने विचार सरल भाषा में जनता के सामने रखे। गौतम बुद्ध के सिद्धान्तों का विश्लेषण इस इकाई में किया गया है।

बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद आयोजित होने वाली संगीतियों ने बौद्ध धर्म को एक नवीन स्वरूप प्रदान किया। बौद्ध मत की इन सभाओं में बुद्ध की शिक्षाओं को व्यवस्थित कर उनका संकलन किया गया। बौद्ध संघ के नियमों का भी निर्धारण किया गया। इन संगीतियों में बौद्ध धर्म के विभिन्न संप्रदायों का उदय हुआ।

11.1 उद्देश्य

इस इकाई में बौद्ध धर्म से सम्बन्धित निम्न बिन्दुओं पर विचार किया गया है–

- बौद्ध धर्म के उदय की पृष्ठभूमि क्या थी।
- बुद्ध के आरंभिक जीवन के विषय में तथा ज्ञान प्राप्ति के पश्चात उनकी शिक्षायें किस प्रकार की थीं।
- बौद्ध धर्म की संगीतियाँ किस काल में आयोजित की गई और इन संगीतियों में बौद्ध धर्म में होने वाले परिवर्तन और विकास के बारे में चर्चा की गई है।

11.2 बौद्ध धर्म की उत्पत्ति

बौद्ध धर्म के उद्भव में तत्कालीन धार्मिक सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियाँ उत्तरदायी थीं। परंपरागत वैदिक धर्म और समाज में बढ़ती हुई कुप्रथाओं, कुरीतियों, ऊँच–नीच, पाखंडों के विरूद्ध असंतोष बढ़ रहा था। बड़े पैमाने पर बलि–यज्ञों का अनुष्ठान किया जाने लगा था।

समकालीन सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियाँ भी बौद्ध धर्म के उद्‌भव की पृष्ठभूमि तैयार कर रही थीं। वर्णों का लचीलापन कम हो रहा था और वे कठोर हो कर जाति के रूप में परिणत हो रहे थे। विशाल यज्ञों के आयोजन के बढ़ते महत्व के कारण ब्राह्मण वर्ग का प्रभुत्व बढ़ने लगा। शूद्रों की दशा शोचनीय हो गई थी। उन पर लगाये गये प्रतिबन्धों के कारण उनमें असन्तोष बढ़ रहा था।

यह काल नगरीय क्रांति का काल था। बड़े नगरों की स्थापना के साथ ही उत्पादन में भी वृद्धि हुई। लोहे का प्रयोग और तकनीकी ज्ञान में वृद्धि होने के कारण लोहे के नये उपकरणों का निर्माण होने लगा। सिक्कों के प्रचलन के साथ व्यापार तथा वाणिज्य में प्रगति होने लगी। समाज में व्यापारी वर्ग भी सबल और समृद्धिशाली होने लगे। राजनैतिक शक्ति में विस्तार से क्षत्रिय वर्ग भी अपनी श्रेष्ठता का दावा करने लगा। इन बदलते हुये सामाजिक, आर्थिक परिदृश्य में नवीन विचारधाराओं के उद्‌भव की पृष्ठभूमि तैयार हुई। साधारण वर्ग के लोग तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था का घोर विरोध करने लगे। उन्हें नवीन विचार और सुधार की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इसी समय बहुत से प्रगतिशील विचारकों, दार्शनिकों, धर्माचार्यों, सुधारकों का आविर्भाव हुआ। इनके सरल और बोधगम्य सिद्धान्तों ने जन जीवन को अपनी ओर आकृष्ट किया। इन चिन्तकों ने वेदों की अपौरूषेयता, पुरोहितों के वर्चस्व और यज्ञों का विरोध किया। इनके अनुसार नैतिक आचरण, संयम, अहिंसा से कर्म के बन्धन से मुक्त होकर भवसागर को पार कर मोक्ष की प्राप्ति संभव है। ईसा पूर्व छठी शताब्दी के अनीश्वरवादी सम्प्रदाय के आचार्यों में गौतम बुद्ध का नाम सर्वोपरि है।

11.3 बुद्ध का जीवन और शिक्षायें

बौद्ध धर्म के प्रवर्तक गौतम बुद्ध का जन्म लगभग 563 ई0पू0 के लगभग माना गया है। बुद्ध की तिथियों के बारे में मतभेद रहा है। राहुल सांकृत्यायन ने बुद्ध के जन्म की तिथि 563 ई0पू0 माना है। कुछ नये अन्वेषण और सिंहली परंपरा में सिद्धार्थ की जन्मतिथि 623 ई0पू0 मानी गई हैं। गौतम बुद्ध का आरंभिक नाम सिद्धार्थ था। उनके पिता शुद्धोधन शाक्य–वंश के शासक थे। शाक्य गणराज्य नेपाल की सीमा के पास स्थित था। इसकी राजधानी कपिलवस्तु (वर्तमान तिलौराकोट) थी। गौतम गोत्र से संबंधित होने के कारण इन्हें गौतम भी कहा जाता है। शुद्धोधन की पत्नी मायादेवी कपिलवस्तु के समीप स्थित कोलिय गणराज्य की राजकन्या थीं। वे पुत्र जन्म के लिये अपने मायके जा रही थीं। मार्ग में ही लुम्बिनीवन (वर्तमान रूम्मिनदेई) नामक स्थान पर उन्हें पुत्र–प्राप्ति हुई। एक सप्ताह के पश्चात माता की मृत्यु के कारण सिद्धार्थ का पालन पोषण विमाता प्रजापति गौतमी के द्वारा किया गया। अनुश्रुति के अनुसार के कुछ समय बाद उनके शरीर पर महापुरूषों के 32 लक्षणों के दर्शन हुये। बौद्ध मान्यताओं के अनुसार इन लक्षणों से युक्त व्यक्ति जो गृहस्थ होगा वो विजयी होगा, जो संसार का परित्याग करेगा वह बुद्ध होगा। सुत्तपिटक और विनयपिटक में उनके जीवन का उल्लेख मिलता है।

सिद्धार्थ का पालन पोषण राजसी वैभव और विलास के वातावरण में हुआ। उन्हें राजकुमारों की तरह सभी क्षत्रियोचित व अन्य शिक्षायें दी गई। सिद्धार्थ बचपन से ही चिंतनशील थे। वे एकान्त में ध्यानमग्न हो कर जीवन की अनेक समस्याओं पर गहन विचार करते थे। पिता शुद्धोधन ने पुत्र को संसार की बाधाओं पीड़ा और विरक्ति से दूर रखने के लिये भोग विलास के सभी साधन एकत्रित कर दिये। 16 वर्ष की अवस्था में यशोधरा नामक युवती से उनका विवाह कर दिया। कालान्तर में यशोधरा से राहुल नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। परंतु इन सांसारिक सुखों से सिद्धार्थ का मन संतुष्ट नहीं हो पाया।

नगर में भ्रमण करते हुये उन्होंने पहली बार जर्जर काया वाले वृद्ध, दूसरी बार रोग ग्रस्त मनुष्य, तीसरी बार मृतक और चौथी बार प्रसन्नचित्त सन्यासी को देखा। मानवता को दुःख में निमग्न देख कर उनका हृदय खिन्न हो उठा। जरा, व्याधि व मृत्यु जीवन से जुड़े इन तीन कटु सत्यों ने उनके जीवन का मार्ग परिवर्तित कर दिया। वे निवृत्ति मार्ग की ओर अग्रसर हुये। इन समस्याओं का समाधान खोजने के लिये 29 वर्ष की आयु में गृह त्याग दिया। बौद्ध ग्रन्थों में इस घटना को महामिनिष्क्रमण की संज्ञा दी गई है। सिद्धार्था ज्ञान की खोज में निकल पड़े। सर्वप्रथम के सांख्य दर्शन के आचार्य आलारकालाम के पास गये। उनके आश्रम में उन्होंने तपस्या की। परन्तु यहाँ उन्हें सन्तुष्टि नहीं मिली। इसके पश्चात वे रूद्रकरामपुत्त नामक अन्य धर्माचार्य के समीप गये यहाँ भी उन्हें शान्ति नहीं मिली। उन्होंने गया के समीप उरूवेला के घने जंगल में कठोर तप आरंभ किया। सिद्धार्थ के साथ पॉच अन्य ब्राह्मण भी तप के लिये आये थे। वन में कठोर तप और निराहार रहने के कारण सिद्धाथ्र का शरीर अस्थिपंजर मात्र रह गया। कठोर तप के बाद भी उन्हें संतोष नहीं मिला। इसके पश्चात उन्होंने सरल पद्धति से पुनः साधना आरम्भ की। उन ब्राह्मण तपस्वियों से सिद्धार्थ का मतभेद होने के कारण वे उन्हें छोड़कर सारनाथ चले गये। सिद्धार्थ पीपल के वृक्ष के नीचे समाधि में लीन हो गये। उन्होंने दृढ़ संकल्प लिया कि जब तक ज्ञान की प्राप्ति नहीं होगी वे समाधि नहीं छोड़ेंगे। इसके पश्चात 35 वर्ष की आयु में बैशाख पूण्रिमा की रात्रि को सिद्धार्थ को सर्वोच्च ज्ञान की प्राप्ति हुई। सम्बोधि में उन्हें प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त का बोध हुआ तथा निर्वाण की प्राप्ति हुई। (Dr. G.C. Pandey Studies in the Origins of Buddhism) तभी से वे बुद्ध कहलाने लगे।

प्रारम्भ में बुद्ध ने जो सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त किया था उसे लोगों से बॉटने में रूचि नहीं दिखाई। बौद्ध मान्यताओं के अनुसार स्वयं ब्रह्मा जी के द्वारा अनुरोध किये जाने पर दुःख से संतप्त मानवता को शान्ति प्रदान करने के उद्देश्य से बुद्ध ने अपने ज्ञान का उपदेश देने का निर्णय लिया। बुद्ध ने अपना प्रथम उपदेश वाराणसी के सारनाथ में उन पाँच सन्यासियों को दिया जो उन्हें छोड़ कर चले गये थे। इस घटना को धर्मचक्र प्रवर्तन (धम्म चक्क पवत्तन) की संज्ञा दी गई। बुद्ध ने अगले 45 वर्षों तक अपने संदशों का सरल भाषा में प्रचार किया। वर्तमान बिहार, उत्तर प्रदेश का कुछ भाग और नेपाल में भी भ्रमण करते हुये बुद्ध ने अपने सिद्धान्तों का प्रचार

और प्रसार किया। उनके प्रभावशाली और महान व्यक्तित्व के कारण निर्धन और धनी सभी उनके धर्म के अनुयायी बने। 80 वर्ष की आयु में कुशीनगर में उनका देहावसान हो गया।

बुद्ध की शिक्षायें

बुद्ध को सम्बोधि में प्रतीत्य–समुत्पाद के सिद्धान्त का ज्ञान हुआ और निर्वाण की प्राप्ति हुई। प्रतीत्य–समुत्पाद का अर्थ है संसार में सभी वस्तुओं की उत्पत्ति के पीछे कोई न कोई कारण है और वे इस पर निर्भर है। प्रत्येक वस्तु और घटना का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। निर्वाण का अर्थ है सांसारिक बन्धनों तृष्णाओं और दुःख से मुक्त हो जाना और यही परम लक्ष्य माना गया है। सर्वप्रथम बुद्ध ने चार आर्य सत्य (चतारिय सच्चानि) का उपदेश दिया। ये इस प्रकार थे।

दुःख

बुद्ध के अनुसार यह समस्त जीवन दुःखों से परिपूर्ण है। मनचाही वस्तु को न पाना और अप्रिय वस्तु का मिल जाना भी दुःख है। संपूर्ण संसार परिवर्तनशील है और अशांति से युक्त है। इस अनुभव से भी दुःख उत्पन्न होता है। सुख के समाप्त हो जाने पर भी दुःख होता है। जन्म, मृत्यु, व्याधि, जरा ये सभी दुःख ही हैं।

दुःख समुदय

प्रतीत्य समुत्पाद सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तु किसी न किसी कारण पर निर्भर होती है। इसलिये दुःख का भी कोई न कोई कारण अवश्य है। दुःख का मूल कारण अविद्या (अज्ञानता) है। मनुष्य अविद्या के कारण स्वयं को शरीर और मन के साथ जोड़ता है। इसके कारण उसके मन में भौतिक सुखों को प्राप्त करने के लिये तृष्णा उत्पन्न होती है और वह विभिन्न प्रकार के कर्मों को करने लगता है। अविद्या और तृष्णा ही दुःखों का मूल कारण हैं। कालांतर में प्रतीत्यसमुत्पाद की 12 कड़ियाँ मानी गईं– अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नाम–रूप (मन एवं शरीर), स्पर्श, षडायतन (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ व मन और उनके समूह), वेदना, तृष्णा, उपादान (सांसारिक विषयों में आसक्ति होना), भव (उत्पन्न होने की इच्छा), जाति (शरीर धारण करना), जरामरण (वृद्धावस्था और मृत्यु)।

दुःख निरोध

प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तु कारण पर निर्भर करती है। यदि कारण को समाप्त कर दिया जाय तो वस्तु का अस्तित्व भी समाप्त हो जायेगा। अतः यदि दुःखों का मूल कारण अर्थात अविद्या को समाप्त कर दिया जाय तो दुःख का भी निरोध हो जायेगा। दुःख–निरोध होने पर निर्वाण की प्राप्ति हो जायेगी और सांसारिक बन्धनों से मुक्ति मिल जायेगी। निर्वाण जीवन का चरम् लक्ष्य माना गया है। निर्वाण की प्राप्ति हो जाने पर अहंकार का तिरोभाव हो जाता है और आवागमन के बन्धन से छुटकारा मिल जाता है।

दु:ख–निरोध मार्ग

बुद्ध ने अविद्या, तृष्णा और कर्म को ही दु:खों का मूल कारण माना है। शील (अहिंसा, मैत्री, करूणा), समाधि (मन की एकाग्रता), प्रज्ञा (आलौकिक ज्ञान) से दु:खों का अन्त हो जाता है। आरम्भ में बुद्ध ने शील, समाधि और प्रज्ञा को दु:ख–निरोध मार्ग माना– देखें डॉ0 गोविन्द चन्द्र पाण्डे, स्टडीज़ इन द ओरिजिन्स ऑफ बुद्धिज्म। कालान्तर में इस मार्ग के आठ अंग माने गये और इन्हें अष्टांग मार्ग कहा गया। ये आठ अंग इस प्रकार हैं–

1. **सम्यक् दृष्टि–** वस्तु के वास्तविक स्वरूप को जानना और सही दृष्टिकोण रखना।
2. **सम्यक् संकल्प–** आसक्ति, द्वेष और हिंसा से मुक्त विचार रखना।
3. **सम्यक् वाक्–** सत्य वचन बोलना जो अप्रिय न हो और जिनसे किसी को दु:ख न पहुँचे।
4. **सम्यक् कर्मान्त–** इसका अभिप्राय अच्छे कर्मों से है। दया, दान, अहिंसा, मानवता की सेवा आदि का अनुसरण करना।
5. **सम्यक् आजीव–** जीवन यापन के लिये सदाचार के नियमों के अनुकूल आजीविका का अनुसरण करना।
6. **सम्यक् व्यायाम–** नैतिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिये लगातार प्रयास करते रहना ही सम्यक् व्यायाम है।
7. **सम्यक् स्मृति–** अपनी दुर्बलताओं को भली प्रकार से समझना जिससे स्वयं के विषय में कोई मिथ्या धारणा न बन पायें।
8. **सम्यक् समाधि–** चित्त की एकाग्रता। इससे आध्यात्मिक उन्नति सम्भव है।

अष्टांगिक मार्ग में सम्यक् कर्मान्त तथा अजीव शील के अन्तर्गत, सम्यक् समाधि, स्मृति तथा व्यायाम समाधि के अन्तर्गत और सम्यक् दृष्टि, संकल्प और वाक् प्रज्ञा के अन्तर्गत रखे गये हैं। बुद्ध के इन आठ मार्गों को मध्यमा–प्रतिपदा या मध्यम मार्ग कहा गया है। बुद्ध ने अत्यधिक विलासिता या इन्द्रिय सुख में डूबे रहने का विरोध किया और कठोर तपस्या द्वारा शरीर को कष्ट देना और स्वयं को पीड़ा देना भी उचित नहीं माना। इस प्रकार बुद्ध ने मध्यम मार्ग का प्रतिपादन किया जिससे जीव निर्वाण के पथ पर अग्रसर होता है। शाश्वतवाद और उच्छेदवाद जैसी अतिवादी विचारधाराओं का खण्डन कर बुद्ध ने मध्यम मार्ग को अपनाया था। बुद्ध ने कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार किया। उनके अनुसार मनुष्य का वर्तमान जीवन उसके जीवन की पूर्ववर्ती अवस्था का परिणाम है। वर्तमान अवस्था भविष्य का जीवन निर्धारित करती है। संसार में सभी वस्तुयें परिवर्तनशील

हैं और नश्वर हैं। कारण के समाप्त हो जाने पर वस्तु भी समाप्त हो जाती है। अतः प्रत्येक वस्तु की स्थिति क्षणिक ही है।

बुद्ध आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में मौन ही रहे। यज्ञीय कर्मकाण्ड व पशुबलि जैसी कुप्रथाओं का बुद्ध ने स्पष्ट विरोध किया। अहिंसा, मानव–सेवा, सत्य, गुरूजनों का आदर जैसे नैतिक गुणों के विकास पर बल दिया। तत्कालीन समाज में प्रचलित अंधविश्वासों और रूढ़िवादिता की निंदा की। जातिगत भेदभाव का बुद्ध ने विरोध किया। बुद्ध ने कुछ अनुयायियों को सांसारिक सुख त्यागकर भिक्षु जीवन व्यतीत करने के लिये कहा। सामान्य उपासकों के लिये बुद्ध ने भिक्षु धर्म से भिन्न उपदेश दिया। बुद्धघोष ने इसे 'गिहिविनय' अर्थात गृहस्थों के लिये आचरण की संज्ञा दी है। बुद्ध का धार्मिक दृष्टिकोण उदारतापूर्ण था।

धर्म–प्रचार को गति प्रदान करने के लिये बुद्ध ने बौद्ध संघ की स्थापना की। भिक्षु, भिक्षुणियों के लिये नियमों का विधान किया। बौद्ध विहारों में रहने वाले ये भिक्षु घूम–घूम कर उपदेश देते थे। बौद्ध धर्म के प्रसार में बौद्ध संघ का महत्वपूर्ण योगदान था। कालान्तर में बुद्ध, धर्म और संघ बौद्ध धर्म के त्रिरत्न माने गये। भिक्षु प्रतिदिन इनकी वन्दना करते थे।

'बुद्धं सरणं गच्छामि'

'धम्म सरणं गच्छामि'

'संघं सरणं गच्छामि'

11.4 बौद्ध संगीतियाँ

बुद्ध के जीवन काल में ही बौद्ध धर्म का प्रचार और प्रसार होने लगा था। कालान्तर में बौद्ध धर्मावलम्बियों, बौद्ध विद्वानों व आचार्यों में मतभेद बढ़ने लगा। इसके निवारण के लिये बौद्ध संगीतियों या सभाओं का आयोजन किया गया। बौद्ध धर्म के विकास में इन संगीतियों का महत्त्वपूर्ण योगदान था।

पहली बौद्ध संगीति बुद्ध के महापरिनिर्वाण के कुछ समय पश्चात अजातशत्रु के शासनकाल में राजगृह में आयोजित की गई। इस संगीति की अध्यक्षता महाकस्सप ने की। इसमें बुद्ध की शिक्षाओं का संकलन किया गया और उन्हें सुत्त और विनय इन दो पिटकों में रखा गया। सुत्तपिटक में धर्म के सिद्धान्त थे और विनयपिटक में आचार के नियम थे।

द्वितीय बौद्ध संगीति बुद्ध के परिनिर्वाण के सौ वर्षों के बाद वैशाली में आयोजित की गई। इसका आयोजन स्थविरूयश ने किया। इसके अन्तर्गत बौद्ध संघ के अनुशासन से संबंधित नियमों के विषय में उत्पन्न मतभेद को दूर करने का प्रयास किया गया। इसके परिणामस्वरूप भिक्षु संघ दो संप्रदायों में विभक्त हो गया।

जिन्होंने बौद्ध संघ के परम्परागत कठोर व दृढ़ अनुशासन के नियमों को माना वे स्थविर कहलाये। जिन्होंने परिवर्तन के साथ संघ के कुछ नये नियमों को अपनाया वे महासांघिक कहलाये।

तृतीय बौद्ध संगीति सम्राट अशोक के शासन काल में पाटलिपुत्र में आयोजित की गई। इसी अध्यक्षता मोगलिपुत्त तिस्य के द्वारा की गई। इसमें स्थविरवादियों का ही ज्यादा प्रभाव था। इस सभा में अभिधम्मपिटक के कथावत्थु भाग का निर्माण हुआ। इसमें बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों की दार्शनिक व्याख्या की गई। सम्राट अशोक के प्रयासों से बौद्ध धर्म पश्चिम एशिया व अन्य देशों में भी फैला।

चौथी बौद्ध संगीति कुषाण शासक कनिष्क के शासन–काल में कश्मीर में आयोजित हुई। इसके अध्यक्ष वसुमित्र थे। इस संगीति में महासांघिकों का अधिक प्रभाव था। इसमें त्रिपिटकों पर भाष्य लिखे गये जिसे विभाषाशास्त्र कहा गया। इसी समय महायान का उदय हुआ। महासांघिक सम्प्रदाय से ही महायान की उत्पत्ति हुई। प्राचीन बौद्ध धर्म को हीनयान कहा गया। इस प्रकार बौद्ध धर्म के अनुयायियों के दो प्रमुख सम्प्रदाय हो गये हीनयान और महायान।

बौद्ध धर्माचार्यों, विद्वानों व दार्शनिकों ने बुद्ध के सिद्धान्तों को ग्रन्थों में संकलित किया। इन बौद्ध ग्रन्थों को त्रिपिटक कहते हैं। ये ग्रन्थ है–

1. **सुत्त पिटक–** इसके पाँच निकाय हैं– दीघ निकाय, मज्झिम निकाय, संयुक्त निकाय, अंगुत्तर निकाय, और खुद्दक निकाय।

2. **विनय पिटक–** इसमें तीन भाग हैं– सुत्तविभंग, खन्धक और परिवार।

3. **अभिधम्म पिटक–** इसके सात भागत हैं। धम्म संगणि, विभंग, धातु कथा, पुग्गल पंजाति, कथावस्तु, यमक और पट्ठान। ये ग्रन्थ बौद्ध दर्शन से संबंधित हैं।

5. **जातक ग्रन्थ–** सुत्त पिटक के खुद्दक निकाय में बुद्ध के जन्म से संबंधित कई कथायें मिलती हैं। इन्हें जातक ग्रन्थ कहा जाता है।

11.5 सारांश

इस इकाई में आपने छठी शताब्दी ईसा पूर्व में उत्तर भारत में नवीन विचारधाराओं के उद्भव के विषय में पढ़ा। इसमें बौद्ध धर्म के उद्भव की पृष्ठभूमि पर चर्चा की गई है। तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक आवश्यकताओं ने बौद्ध धर्म की लोकप्रियता को और बढ़ाया। विलासितापूर्ण जीवन से विरक्ति और ज्ञान प्राप्ति की अभिलाषा ने सिद्धार्थ को गृहत्याग के लिये प्रेरित किया था। इसके पश्चात उरूवेला में पीपल के वृक्ष के नीचे उन्हें सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त हुआ। बुद्ध ने अपने संदशों को सामान्य जन की भाषा में लोगों तक पहुँचाया। उनके

उपदेशों में मानवता, नैतिक जीवन, कर्म और अहिंसा पर विशेष बल दिया गया। जाति व्यवस्था, पशुबलि, यज्ञीय कर्मकाण्डों का खण्डन भी किया गया। उनके सीधे सरल विचारों ने जनमानस को आकर्षित किया। आपने यह जाना कि बौद्ध धर्म की चार संगीतियों के आयोजन के पश्चात बौद्ध धर्म ग्रन्थों में बुद्ध के उपदेशों का संकलन किया गयां बौद्ध धर्म के दार्शनिक विचारों के विकास के साथ–साथ बौध धर्म के स्वरूप में भी परिवर्तन हो गया।

11.6 शब्दावली

प्रतीत्य–समुत्पाद–सम्बोधि में बुद्ध को प्रतीत्यसमत्पाद के सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त हुआ जिसके अनुसार संसार की सभी वस्तुओं और अवस्थाओं का कोई न कोई कारण अवश्य होता है।

निर्वाण– सांसारिक दुःखों, तृष्णा और बन्धन से छुटकारा पाने की अवस्था निर्वाण है।

धर्मचक्र प्रवर्तन– धर्मरूपी चक्र का चलना।

शाश्वतवाद– कुछ वस्तुयें नित्य हैं। न तो उनका आदि है और न ही अन्त।

उच्छेदवाद– इसके अनुसार वस्तु के नष्ट होने पर वह पूरी तरह समाप्त हो जाती है।

पिटक– बौद्ध धर्म के धार्मिक ग्रन्थ।

बोध प्रश्न–1

निम्नलिखित कथनों में से कौन सा कथन सही (✓) है और कौन सा गलत (X) निशान लगाइये।

(i) बौद्ध धर्म के उद्‌भव में तत्कालीन सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियों का भी योगदान था।

(ii) बुद्ध ने कठोर तप को प्रधानता दी थी।

(iii) बुद्ध ने प्रथम उपदेश कुशीनगर में दिये।

(iv) अष्टांगिक मार्ग दुःख निरोध के आठ अंग हैं।

(v) हीनयान का शाब्दिक अर्थ है निम्न मार्ग।

(vi) चौथी बौद्ध संगीति की अध्यक्षता मोगलिपुत्त तिस्य के द्वारा की गयी।

बोध प्रश्न –

1. बौद्ध धर्म की उत्पत्ति के कारणों की विवेचना कीजिए।

2. बुद्ध के जीवन व उनकी शिक्षाओं का वर्णन कीजिये।

3. बौद्ध धर्म के विकास में बौद्ध संगीतियों के योगदान का विवेचन कीजिये।

11.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न–1

i(✓), ii - (x), iii (x), iv(✓), v (✓), vi (x)

बोध प्रश्न 2–

देखें उपभाग–11.2

देखें उपभोग 11.3

देखें उपभाग 11.

11.8 सहायक ग्रन्थ

- बाशाम ए0एल0, अद्‌भुत भारत, आगरा।
- कोसाम्बी, डी0डी0, प्राचीन भारतीय संस्कृति और सभ्यता
- गुप्ता, शिव कुमार, भारतीय चिन्तन का इतिहास।
- पाण्डे, जी0सी0– Foundation of Indian Culture
- बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास।
- सिंह, उपिन्दर– प्राचीन एवं पूर्वमध्यकालीन भारत का इतिहास, पाषाण काल से 12वीं शताब्दी तक

इकाई 12 – प्रारम्भिक बौद्ध संप्रदायों का इतिहास, महायान की उत्पत्ति और विकास और हीनयान से उसका संबंध

इकाई की रूपरेखा

12.0 प्रस्तावना

12.1 उद्देश्य

12.2 प्रारम्भिक बौद्ध संप्रदायों का इतिहास

12.3 महायान की उत्पत्ति और विकास

12.4 हीनयान के साथ महायान का सम्बन्ध

12.5 सारांश

12.6 शब्दावली

12.7 बोध प्रश्न के उत्तर

12.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

12.1 प्रस्तावना

बौद्ध धर्म के विकास में बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद आयोजित होने वाली बौद्ध संगीतियों का बड़ा योगदान था। प्रथम संगीति बुद्ध के महापरिनिर्वाण के कुछ समय बाद आयोजित की गई। इस संगीति में बुद्ध के उपदेशों का संकलन किया गया। द्वितीय संगीति में बौद्ध संघ में मतभेद बढ़ गया। परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म के अनुयायी दो भागों में बॅट गये स्थविर और महासांधिक। चतुर्थ संगीति में पूर्ववर्ती इन्हीं दो संप्रदायों से हीनयान और महायान संप्रदायों का उदय हुआ। इन दोनों सम्प्रदायों की दार्शनिक विशेषता और इनके संप्रदायों का विवेचन इस इकाई में किया गया है। इन दोनों संप्रदायों के दार्शनिक विचार किस प्रकार से भिन्न थे इसके विषय में भी बताया गया है।

12.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप यह जान पायेंगे कि किस प्रकार बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात बौद्ध संघ में मतभेद उत्पन्न होने के कारण बौद्ध धर्म के विभिन्न संप्रदायों का उद्‌भव हुआ। कालान्तर में बौद्ध धर्म दो प्रमुख संप्रदायों में बँट गया–हीनयान और महायान। आरम्भिक बौद्ध संप्रदायों से ही हीनयान और महायान संप्रदाय अस्तित्व में आये। इनमें बौद्ध धर्म की महायान शाखा अधिक लोकप्रिय हुई। महायान शाखा के विकास और हीनयान व महायान के सम्बन्ध व उनमें अन्तर के विषय में जानकारी प्राप्त करेंगे।

12.2 प्रारम्भिक संप्रदायों का इतिहास

बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद आयोजित होने वाली बौद्ध संगीतियों में बौद्ध संघ में विभेद उत्पन्न होने लगे। इन संगीतियों में बौद्ध संघ के मतभेदों को दूर करने का प्रयास किया गया। इसके फलस्वरूप बौद्ध धर्म में नवीन संप्रदायों का उदय हुआ। प्रथम बौद्ध संगीति में बुद्ध के शिष्यों ने विनय के नियमों तथा बुद्ध के उपदेशों का संकलन करके विनयपिटक एवं सुत्तपिटक का संपादन किया। द्वितीय बौद्ध संगीति में विनय–पिटक के कठोर नियमों को शिथिल करने के लिये विचार विमर्श किया गया। वैशाली के बौद्ध भिक्षु नियमों में परिवर्तन के पक्षधर थे परन्तु परम्परागत नियमों में आस्था रखने वाले भिक्षु नियमों में ढील देने के लये तैयार नहीं थे। अंततः भिक्षु संघ दो संप्रदायों में विभक्त हो गया। विनय पिटक के कठोर नियमों का अनुपालन करने वाले स्थविर या थेरावादी कहलाये। विनय के नियमों में परिवर्तन के पक्षधर महासांधिक या सर्वास्तिवादी कहलाये। तृतीय बौद्ध संगीति में अभिधम्म पिटक के कथावत्थु भाग का संपादन किया गया। इसमें बौद्ध धर्म के दार्शनिक विचारों की विवेचना की गई। चतुर्थ बौद्ध संगीति कनिष्क के राजत्व–काल में कश्मीर में आयोजित की गई। इस समय तक बौद्ध धर्म के अनेक संप्रदाय अस्तित्व में आ गये थे। इस संगीति में सुत्तपिटक, विनयपिटक व अभिधम्मपिटक की टीका

विभाषाशास्त्र का संपादन किया गया। इसी समय महायान शाखा का उदय हुआ। इसके फलस्वरूप बौद्ध धर्म व संघ के सिद्धान्तों में मतभेंद उत्पन्न हो गया। बौद्ध धर्म दो प्रमुख संप्रदायों में विभक्त हो गया हीनयान और महायान। महासांघिक संप्रदाय से महायान और स्थविर संप्रदाय से हीनयान की उत्पत्ति हुई।

महायान संप्रदाय के अनुयायियों ने परम्परागत नियमों को मानने वालों के लिये हीनयान शब्द का प्रयोग किया। हीनयान का शाब्दिक अर्थ है— निम्न मार्ग। हीनयान धर्म का पालन वे ही कर पाते थे जो गृहत्याग कर भिक्षु बन जाते थे। इसके मत के अनुसार बुद्ध सर्वज्ञ, अलौकिक शक्तियों और गुणों से सम्पन्न मनुष्य रूप में थे। इस संप्रदाय के अनुयायियों का प्रधान लक्ष्य अर्हत पद प्राप्त करना था। निर्वाण प्राप्त कर लेने वाले भिक्षु को अर्हत कहते हैं। हीनयान के अनुयायी यह मानते थे कि संपूर्ण विश्व परिवर्तन में आबद्ध है और सभी वस्तुयें अनित्य और क्षणभंगुर हैं। ये अनात्मवाद में विश्वास रखते थे। चार आर्य सत्य, प्रतीत्य—समुत्पाद तथा अष्टांग मार्ग इस मत के अंग हैं। हीनयान के दो प्रमुख दार्शनिक मत है— वैभाषिक और सौत्रान्तिक। वैभाषिक मत के अनुयायी अभिधम्म पिटक की टीका विभाषा को ही श्रेष्ठ मानते हें और सौत्रान्तिक मत में सूत्रों को सर्वोपरि माना गया है।

12.3 महायान की उत्पत्ति और विकास

महायान का तात्पय्र है 'उत्कृष्ट मार्ग'। महायान की उत्पत्ति बौद्ध धर्म के महासांघिक संप्रदाय से मानी गई। प्रथम शताब्दी ईसवी में कनिष्क के शासन काल में कश्मीर में आयोजित चतुर्थ बौद्ध और संगीति में इसे बौद्ध धर्म की शाखा के रूप में मान्यता प्रदान की गई। नागार्जुन ने प्रथम शताब्दी ईसवी में महायान की दार्शनिक विचारधारा के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

महायान संप्रदाय में बोधिसत्व की अवधारणा मिलती है। बोधिसत्व का तात्पर्य है ज्ञान—प्राप्ति के मार्ग पर चलने वाला। कोई भी व्यक्ति ज्ञान—प्राप्ति के मार्ग का अनुसरण करके बोधिसत्व बनने की क्षमता रखता है। इसमें साधारण उपासकों को भी चरम लक्ष्य निर्वाण प्राप्ति का अवसर दिया गया। बोधिसत्व का यह कर्तव्य माना गया कि वह स्वयं के निर्वाण के लिये प्रयत्नशील रहते हुये समस्त प्राणियों के दुःखों को दूर करने और उन्हें निर्वाण के पथ की ओर ले जाने में सहायता करें।

बोधिसत्व को पारमिताओं की प्राप्ति का आदेश दिया गया। सद्‌गुण और नैतिक आचार ही पारमिता हैं जो संख्या में दस हैं। ये इस प्रकार हैं— दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा, उपाय—कौशल्य, प्राणिधान, बल और ज्ञान। पारमितायें चारित्रिक पूर्णताये हैं। महायान में चारित्रिक विकास के साथ ही बोधिसत्व के आध्यात्मिक विकास की भी दस अवस्थायें बताई गई हैं। ये हैं— प्रभुदिता, विमला, प्रभाकारी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुखी, दूरंगया, अचला, साधुमती, धर्ममेधा।

महायान में बुद्ध के त्रिकाय का उल्लेख मिलता है। ये त्रिकाय– धर्मकाय, निर्माणकाय और संभोगकाय है। धर्मकाय विश्व–ब्रह्माण्ड में शाश्वत रूप में व्याप्त है। निर्माणकाय बुद्ध का सृजित (भौतिक) शरीर है। सम्भोग काय बुद्ध का आनन्द मय शरीर माना गया है। महायान में अन्तिम लक्ष्य बुद्धत्व की प्राप्ति है। बुद्ध और बोधिसत्वों की मूर्तियाँ बनाने और उनकी पूजा किये जाने को महायान में स्वीकृति दी गई। भक्ति का समावेश होने से बौद्ध धर्म की लोकप्रियता बढ़ती गई। बुद्ध और बोधिसत्वों की मूर्तियों के निर्माण होने से कला को भी प्रोत्साहन मिला। कालान्तर में महायान में तंत्र मंत्र का समावेश भी हो गया था। महायान के दो दार्शनिक संप्रदाय थे– शून्यवाद या माध्यमिक और विज्ञानवाद या योगाचार। नागार्जुन, आर्यदेव, असंग और वसुबन्धु ने महायान को सुदृढ़ दार्शनिक आधार प्रदान किया।

12.4 हीनयान के साथ महायान का सम्बन्ध

हीनयान और महायान संप्रदाय में संघ के नियम ौर आचरण एक समान थे। संघ में हीनयान और महायान मतावलम्बी साथ में रहते थे। परन्तु उनके दार्शनिक विचार और आदर्श भिन्न थे।

- हीनयान और महायान मतावलम्बी दोनों ही यह मानते हैं कि महात्मा बुद्ध ने विभिन्न रूपों में जन्म लिया था और भविष्य में भी लेंगे। हीनयान के अनुसार बुद्ध इन विभिन्न रूपों में जन्म ले कर धीरे–धीरे निर्वाण प्राप्ति की ओर बढ़ते हें और अंत में बुद्ध के रूप में निर्वाण प्राप्त करते हैं। इसके अनुसार बुद्ध स्वयं एक मनुष्य थे। महायान मत में बुद्ध को ईश्वर का एक रूप माना गया था। वे विभिन्न रूपों में जन्म लेकर स्वयं कष्टों का सामना करते हुये लोगों को निर्वाण प्राप्ति में सहायता प्रदान करते थे। वे बोधिसत्व कहे गये। कोई भी व्यक्ति बोधिसत्व हो सकता है। बोधिसत्व में करूणा और प्रज्ञा होती है।
- हीनयान मत में स्वयं की निर्वाण प्राप्ति ही अन्तिम लक्ष्य माना गया है। महायान में अन्य सभी लोगों को निर्वाण प्राप्ति में सहायता करना ही व्यक्ति का प्रमुख और अन्तिम लक्ष्य माना गया है। हीनयान व्यक्तिवादी धर्म है और महायान में सेवा परोपकार और मानव जाति के कल्याण को प्रधानता दी गई।
- हीनयान में जीवन का लक्ष्य अर्हत पद की प्राप्ति था अर्थात स्वयं के लिये निर्वाण प्राप्ति। निर्वाण के पश्चात उनका पुनः जन्म नहीं होता है। महायान का अन्तिम लक्ष्य बुद्धत्व की प्राप्ति माना गया है। बोधिसत्व मोक्ष प्राप्ति के बाद भी अन्य प्राणियों की मुक्ति के लिये सहायता करते रहते हैं।
- महायान मत के अनुयायी बुद्ध को देवता स्वरूप मानते थे और मूर्ति–रूप में बुद्ध और बोधिसत्व की पूजा करते थे। बौद्ध तीर्थों को भी महायान में महत्व दिया गया। हीनयान मत में मूर्तिपूजा और भक्ति का कोई स्थान नहीं था।

- हीनयान धर्म का पालन वे ही कर पाते थे जो गृहत्याग कर भिक्षु हो जाते थे। महायान धर्म का पालन भिक्षु के साथ–साथ सामान्य ग्रहस्थ जन भी कर सकते थे।
- हीनयान मत में आस्था रखने वाले अनात्मवाद में विश्वास करते हैं। वे आत्मा जैसे किसी स्थायी ततव को नहीं मानते थे। उनके अनुसार शरीर नष्ट हो जाने पर आत्मा भी नष्ट हो जाती है। परन्तु महायान मत में ऐसा नहीं है।
- हीनयान मत के ग्रन्थों की रचना पाली भाषा में की गई। महायान मत के ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गये हैं।

बोध प्रश्न

1. बौद्ध धर्म के विकास में बौद्ध महासंगीतियों के योगदान का उल्लेख कीजिए।
2. हीनयान संप्रदाय की विशेषताओं का वर्णन कीजिये।
3. बौद्ध धर्म की महायान शाखा के विकास पर प्रकाश डालिये।
4. हीनयान और महायान मत के मध्य अन्तर का उल्लेख कीजिये।

12.5 सारांश

इस इकाई में आपने यह जाना कि बुद्ध के पश्चात विभिन्न कालों में आयोजित होने वाली बौद्ध संगीतियों में बौद्ध संघ में विभेद उत्पन्न हुये। इसके फलस्वरूप बौद्ध धर्म के पारंपरिक नियमों को मानने वाले हीनयान संप्रदाय के अुनयायी कहलाये। जिन्होंने संघ के नये नियमों को अपनाया वे महायान संप्रदाय से संबंधित हो गये। हीनयान के साथ ही महायान संप्रदाय की दार्शनिक विचारधारा का विकास हुआ। हीनयान और महायान के भी संप्रदाय अस्तित्व में आये। जहाँ हीनयान में बुद्ध को एक पुरूष के रूप में माना गया वहीं महायान में बुद्ध को ईश्वर स्वरूप माना गया। बुद्ध और बोधिसत्व की मूर्ति–रूप में पूजा और भक्ति का समावेश महायान मत में हुआ। इससे बौद्ध धर्म और अधिक लोकप्रिय हो गया और कला की भी उन्नति हुई। महायान और हीनयान संप्रदाय के संबंधों के अन्तर्गत उनके मध्य अंतर को स्पष्ट किया गया है।

12.6 शब्दावली

- महासंगीति– धर्म सभा
- निर्वाण– निर्वाण का शाब्दिक अर्थ है अंत, मुक्ति। बौद्ध विचारधारा में दुःख या पीड़ा से मुक्ति पा जाने की स्थिति ही निर्वाण है।
- क्षणभंगुर– शीघ्र नष्ट होने वाला।
- चारित्रिक विकास– चरित्र का विकास

12.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. चारों महासंगीतियाँ कब आयोजित हुई और इनमें बौद्ध धर्म के स्वरूप में जो परिवर्तन आया उसका उल्लेख आपको करना है। इसके लिये अनुच्देद 12.2 देखें।

2. अनुच्छेद 12.2 का द्वितीय अनुच्छेद देखें।

3. अनुच्छेद 12.3 देखें।

4. देखिये अनुच्छेद 12.4

12.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

- बाशम, ए0एल0, अद्‌भुत भारत
- थापर रोमिला, भारत का इतिहास
- मजूमदार आर0सी0 प्रधान संपादक, श्रेण्य युग
- सिंह उपिंदर, प्राचीन एवं पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास
- पाण्डे, गोविन्द चन्द्र, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास

इकाई 13 बौद्ध धर्म की चार शाखायें–सौत्रान्तिक, वैभाषिक, शून्यवाद और विज्ञानवाद

इकाई की रूपरेखा

13.0 प्रस्तावना

13.1 उद्देश्य

13.2 सौत्रान्तिक दर्शन का उद्भव और विकास

13.3 सौत्रान्तिक की परिभाषा

13.4 प्रमुख सौत्रान्तिक सिद्धान्त

13.4.1 आश्रय, वस्तु आलम्बन या पदार्थ

13.4.2 आश्रित मार्ग

13.4.3 फल

13.5 सौत्रान्तिक दर्शन की विशेषतायें

13.6वैभाषिक दर्शन (सर्वास्तिवाद)

13.6.1 परिभाषा

13.6.2 हेतु फलवाद

13.6.3 वैशिष्टय

13.6.4 परमाणु विचार

13.7 माध्यमिक दर्शन (शून्यवाद)

13.7.1 स्वातंत्रिक माध्यमिक

13.7.2 प्रासंगिक माध्यमिक

13.7.3 धर्मनैरात्म्य

13.7.4 पुद्गलनैरात्म्य

13.8 योगाचार दर्शन (विज्ञानवाद)

13.8.1 पदार्थमीमांसा

13.8.2 प्रमाण और प्रमाणफल व्यवस्था

13.8.3 प्रमाणफल

13.9 सारांश

13.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

13.11 संदर्भ ग्रन्थ

13.0 प्रस्तावना

भगवान बुद्ध द्वारा प्रवर्तित होने पर भी बौद्ध दर्शन कोई एक दर्शन नहीं, अपितु दर्शनों का समूह है। कुछ बातों में विचार साम्य होने पर भी परस्पर अत्यन्त मतभेद हैं। शब्द साम्य होने पर भी अर्थ भेद अधिक हैं। अनेक शाखोपशाखाओं में विभक्त होने पर भी दार्शनिक मान्यताओं में साम्य की दृष्टि से बौद्ध विचारों का चार विभागों में वर्गीकरण किया गया है, यथा–

वैभाषिक,

सौत्रान्तिक,

योगाचार एवं

माध्यमिक।

यद्यपि अठारह निकायों का वैभाषिक दर्शन में संग्रह हो जाता है और अठारह निकायों में स्थविरवाद भी संग्रहीत है, जागतिक विविध दुःखों के दर्शन से तथागत शाक्यमुनि भगवान बुद्ध में सर्वप्रथम महाकरुणा का उत्पाद हुआ। तदनन्तर उस महाकरुणा से प्रेरित होने की वजह से 'मैं इन दुःखी प्राणियों को दुःख से मुक्त करने और उन्हें सुख से अन्वित करने का भार अपने कन्धों पर लेता हूँ और इसके लिए बुद्धत्व प्राप्त करूंगा'– इस प्रकार का उनमें बोधिचित्त उत्पन्न हुआ।

13.1 उद्देश्य

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य आपको बौद्ध धर्म की चार शाखाओ – सौत्रान्तिक, वैभाषिक, शून्यवाद और विज्ञानवाद से संबंधित जानकारी प्रदान करना है।

13.2 सौत्रान्तिक दर्शन का उद्भव और विकास

सामान्यतया विद्वानों की धारणा है कि सौत्रान्तिक निकाय का प्रादुर्भाव बुद्ध के परिनिर्वाण के अनन्तर द्वितीय शतक में हुआ।

पालि–परम्परा के अनुसार वैशाली की द्वितीय संगीति के तत्काल बाद कौशाम्बी में आयोजित महासंगीति में महासांघिक निकाय का गठन किया गया और बौद्ध संघ दो भागों में विभक्त हो गया। थोड़े ही दिनों के अनन्तर स्थविर निकाय से महीशासक और वृजिपुत्रक (वज्जिपुत्तक) निकाय विकसित हुए। उसी शताब्दी में महीशासक निकाय से सर्वास्तिवाद, उससे काश्यपीयय उनसे संक्रान्तिवादी, फिर उससे सूत्रवादी निकाय का जन्म हुआ। आशय यह कि सभी अठारह निकाय उसी शताब्दी में विकसित हो गये।

निकायों के नामों और काल के विषय में जो मतभेद उपलब्ध होते हैं। उसका कारण देश भेद और आवागमन की सुविधा का अभाव भी प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ भारत के पश्चिमोत्तर में अर्थात कश्मीर, गान्धार आदि प्रदेशों में सौत्रान्तिक निकाय कश्मीर वैभाषिकों से पृथक् होकर विलम्ब से अस्तित्व में आया, अतः वसुमित्र उसका अद्भवकाल चतुर्थ बुद्ध शताब्दी निश्चित करते हैं। उस निकाय ने मध्य देश अर्थात मथुरा आदि स्थानों में

पहले ही अपना स्वरूप प्राप्त कर लिया, अतः वसुमित्र से अन्य आचार्यों का मत भिन्न हो गया। इस प्रकार का मतभेद होने पर भी उनमें मौलिक एकरूपता दृष्टिगोचर होती है। उदाहरण के रूप में काश्यपीय निकाय के विभिन्न नाम विभिन्न प्रदेशों में थे।

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि सौत्रान्तिक निकाय के बीज बुद्ध काल में ही विद्यमान थे। पालि भाषा में उपनिबद्ध और उपलब्ध प्रामाणिक बुद्धवचनों में तथा भोट भाषा और चीनी भाषा में उपलब्ध एवं सुरक्षित उनके अनुवादों में 'सुत्तन्तिक', 'सुत्तधर' (सूत्रधर), 'सुत्तवादी' (सूत्रवादी) आदि शब्द बहुलतया उपलब्ध होते हैं। ज्ञात है कि उस काल में सिद्धान्त विशेष के लिए 'वाद' शब्द प्रयुक्त होता था। सूत्रों में 'सुत्तधर', 'सुत्तवादी', 'सुत्तन्तिक', 'सुत्तन्तवादी' आदि शब्द उन भिक्षुओं के लिए प्रयुक्त होता था, जो सूत्रपिटक के विशेषज्ञ होते थे, जिन्हें सूत्रपिटक कण्ठस्थ था और जो उसके व्याख्यान में निपुण थे।

13.3 सौत्रान्तिक की परिभाषा

जो निकाय सूत्रों का या सूत्रपिटक का सबसे अधिक प्रामाण्य स्वीकार करता है, उसे सौत्रान्तिक कहते हैं। अट्इसालिनी में सूत्र शबद के अनेक अर्थ कहे गये हैं, यथाः

अत्थानं सूचनतो सुवुत्ततो सवनतो थ सूदनतो।

सुत्ताणा सुत्तसभागतो च सुत्तं ति अक्खातं॥–(अट्ठसालिनी, निदानकथावण्णना, पृ. 39)

सूत्र को ही 'सूत्रान्प्त' भी कहते हैं अथवा सूत्र के आधार पर प्रवर्तित सिद्धान्त 'सूत्रान्त' कहलाते हैं। उनसे सम्बद्ध निकाय 'सौत्रान्तिक' है। जिन वचनों के द्वारा भगवान जगत का हित सम्पादित करते हैं, वे वचन 'सूत्र' हैं। अथवा जैसे मणि, सुवर्ण आदि के दानों को एक धागे में पिरोकर सुन्दर हार (आभूषण) का निर्माण किया जाता है, उसी तरह नाना अध्याशय एवं रुचि वाले सत्त्वों के लिए उपदिष्ट नाना बुद्धवचनों को निर्वाण के अर्थ में जिनके द्वारा आबन्धन किया जाता है, वे सूत्र हैं।

महायानी परम्परा के अनुसार बुद्ध का कोई एक भी वचन ऐसा नहीं है, जिसमें ज्ञेय, मार्ग और फल संग्रहीत न हो। इसलिए बुद्धवचन ही 'सूत्र' है। अतः 'सूत्र' यह बुद्ध वचनों का सामान्य नाम है।

यशोमित्र ने अभिधर्मकोशभाष्यटीका की टीका में सौत्रान्तिक शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है : 'कः सौत्रान्तिकार्थः? ये सूत्रप्रामाणिकाः, न तु शास्त्रप्रामाणिकास्ते सौत्रान्तिकाः,' अर्थात् सौत्रान्तिक शब्द का क्या अर्थ है? जो सूत्र को, न कि शास्त्र को प्रमाण मानते हैं, वे सौत्रान्तिक हैं। इन्हें ही दार्ष्टान्तिक भी कहते हैं, क्योंकि वे दृष्टान्त के माध्यम से बुद्ध वचनों का व्याख्यान करने में अत्यन्त निपुण होते हैं। इस निर्वचन के द्वारा त्रिपिटक के सम्बन्ध में सौत्रान्तिकों की दृष्टि का संकेत भी किया गया है।

सौत्रान्तिक निकाय का अस्तित्व तो तृतीय संगीति के अवसर पर सम्राट अशोक के काल में विद्यमान था, किन्तु दार्शनिक प्रस्थान के रूप में उसका विकास सम्भवतः ईसा पूर्व प्रथम शतक में सम्पन्न हुआ।

निकाय के साथ सौत्रान्तिक शब्द का प्रयोग तो सम्भवतः तब प्रारम्भ हुआ, जब अन्य निकायों और मान्यताओं के बीच विभाजन–रेखा अधिक सुस्पष्ट हुई।

सात अभिधर्म ग्रन्थों का संग्रह परवर्ती है, इसलिए बुद्ध वचनों के रूप में सौत्रान्तिकों ने उन्हें मान्यता प्रदान नहीं की।

सूत्रपिटक और विनयपिटक को प्रामाणिक बुद्धवचन मानकर सौत्रान्तिकों ने अपने सिद्धान्तों की अन्य निकायों से अलग स्थापना की। तभी से सौत्रान्तिक निकाय की परम्परा प्रारम्भ हुई। ऐसा लगता है कि अन्य लोगों ने जब बुद्धवचनों का अभिधर्मपिटक के रूप में संग्रह किया और उन्हें बुद्धवचन के रूप में माना, तब प्रारम्भ में सौत्रान्तिकों ने विरोध किया होगा, किन्तु अन्य निकाय वालों ने उनका विरोध मानने से इन्कार कर दिया होगा, तब विवश होकर उन्होंने पृथक् निकाय की स्थापना की। यह घटना द्वितीय बुद्धाब्द में घटनी चाहिए।

महाराज अशोक के काल में सभी निकायों के त्रिपिटक अस्तित्व में आ गये थे। इसीलिए अशोक के समय 'कथावत्थु' नामक ग्रन्थ में अन्य मतों की समालोचना सम्भव हो सकी। इसलिए यह निश्चित होता है कि अभिधर्म का बुद्धवचन सम्बन्धी विवाद एवं सौत्रान्तिक निकाय का गठन उससे पूर्ववर्ती है। यही विवाद अन्ततोगत्वा अन्य निकायों से सौत्रान्तिक निकाय के पृथक् होने के रूप में परिणत हुआ। यही सौत्रान्तिक निकाय के उद्गम का हेतु और काल है।

13.4.प्रमुख सौत्रान्तिक सिद्धान्त

सौत्रान्तिकों की जो प्रमुख विशेषताएं हैं, जिनकी वजह से वे अन्य बौद्ध, अबौद्ध दार्शनिकों से भिन्न हो जाते हैं, अब हम उन विशेषताओं की ओर संकेत करना चाहते हैं। ज्ञात है कि बौद्ध धर्म में अनेक निकायों का विकास हुआ। यद्यपि उनकी दार्शनिक मान्यताओं में भेद हैं, फिर भी बुद्धवचनों के प्रति गौरव बुद्धि सभी में समान रूप से पाई जाती है। सभी निकायों के पास अपने–अपने त्रिपिटक थे। ऐतिहासिक क्रम में महायान का भी उदय हो गया। यह निःसन्दिग्ध है। कि पुरुषार्थ–सिद्धि सभी भारतीय दर्शनों का परम लक्ष्य है। इसी लक्ष्य को ध्यान में रख कर बौद्धों में यानों की व्यवस्था की गई है। उनके दर्शनों का गठन भी यानव्यवस्था पर आधारित है। इसके आधारभूत तत्त्व तीन होते हैं, यथा–

आश्रय, वस्तु आलम्बन या पदार्थ,

आश्रित मार्ग (शील, समाधि, प्रज्ञा),

प्रयोजन या लक्ष्यभूत फल।

13.4.1आश्रय, वस्तु आलम्बन या पदार्थ

मीमांसा के अवसर पर दो सत्यों अर्थात परमार्थ सत्य और संवृति सत्य की चर्चा की जाती है।

परमार्थ सत्य

सौत्रान्तिकों की दो धाराओं में से आगम–अनुयायी सौत्रान्तिकों के अनुसार यन्त्र आदि उपकरणों के द्वारा विघटन कर देने पर अथवा बुद्धि द्वारा विश्लेषण करने पर जिस विषय की पूर्व बुद्धि नष्ट नहीं होती, वह 'परमार्थ सत्य' है। यथा–नील, पीत, चित्त, परमाणु, निर्वाण आदि का कितना ही विघटन या विश्लेषण किया जाए, फिर भी नीलबुद्धि, परमाणुबुद्धि या निर्वाणबुद्धि नष्ट नहीं होती, अतः ऐसे पदार्थ उनके मत में परमार्थ सत्य माने जाते हैं।

इस मत में चारों आर्यसत्यों के जो सोलह आकार होते हैं, वे परमार्थतः सत माने जाते हैं। ज्ञात है कि प्रत्येक सत्य के चार आकार होते हैं। जैसे दुःखसत्य के अनित्यता, दुःखता, शून्यता एवं अनात्मता ये चार आकार है। समुदय सत्य के समुदय, हेतु, प्रत्यय और प्रभव ये चार आकार, निरोध सत्य के निरोध, शान्त, प्रणीत एवं निःसरण ये चार आकार तथा मार्गसत्य के मार्ग, न्याय, प्रतिपत्ति और निर्याण ये चार आकार होते हैं। इस तरह कुल 16 आकार होते हैं।

युक्ति–अनुयायी सौत्रान्तिक मत के अनुसार जो परमार्थतः अर्थक्रिया–समर्थ है और प्रत्यक्ष आदि प्रामाणिक बुद्धि का विषय है, वह 'परमार्थ सत्य' है, जैसे– घट आदि। इस मत के अनुसार योगी का समाहित ज्ञान संस्कार (हेतु–प्रत्यय से उत्पन्न) स्कन्धों का ही साक्षात् प्रत्यक्ष करता है तथा उनकी आत्मशून्यता और निर्वाण का ज्ञान तो उस प्रत्यक्ष के सामर्थ्य से होता है।

संवृतिसत्य

इस मत में पाँच स्कन्ध संवृतिसत्य हैं परमार्थतः अर्थक्रियासमर्थ न होना संवृतिसत्य का लक्षण है। संवृतिसत्य, सामान्यलक्षण, नित्य, असंस्कृत एवं अकृतक धर्म पर्यायवाची हैं। संवृति का तात्पर्य विकल्प ज्ञान से है। उसके प्रतिभास स्थल में जो सत्य है, वह संवृतिसत्य है। विकल्प के संवृति इसलिए कहते हैं, क्योंकि वह वस्तु की यथार्थ स्थिति के ग्रहण में आवरण करता है। आगमानुयायी सौत्रान्तिकों के अनुसार यन्त्र आदि उपकरणों द्वारा विघटन करने पर या बुद्धि द्वारा विश्लेषण करने पर जिन पदार्थों की पूर्वबुद्धि नष्ट हो जाती है, वे संवृतिसत्य हैं, यथा– घट, अम्बु आदि।

इस दर्शन में पाँच प्रकार के प्रमेय माने जाते हैं, यथा– रूप, चित्त, चौतसिक, विप्रयुक्त संस्कार एवं असंस्कृत निर्वाण। ये स्कन्ध, आयतन और धातुओं में यथायोग्य संग्रहीत होते हैं।

13.4.2आश्रित मार्ग

जस मार्ग की भावना की जाती है, वह मार्ग वस्तुतः सम्यक ज्ञान ही है।

नैरात्म्य ज्ञान,

चारों आर्यसत्यों के सोलह आकारों का ज्ञान,

सैतीस बोधिपक्षीय धर्म,

चार अप्रमाण,

नौ अनुपूर्व समापत्तियाँ– ये धर्म यथायोग्य लौकिक और अलौकिक मार्गों में संग्रहीत होत हैं।

13.4.3फल

स्रोत आपन्न, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत ये चार आर्य पुद्गल होते हैं। ये चारों मार्गस्थ और फलस्थ दो प्रकार के होते हैं, अतः आर्यपुद्गलों की संख्या आठ मानी जाती है।

सोपधिशेष निर्वाण प्राप्त और निरुपधिशेष निर्वाण प्राप्त–इस तरह अर्हत पुद्गल भी द्विविध होते हैं।

प्रत्येक बुद्धत्व और सम्यक संबुद्धत्व भी फल माने जाते हैं।

बुद्धत्वप्राप्ति और अर्हत्वप्राप्ति के मार्ग में यद्यपि ज्ञानगत कोई विशेषता इस मत में नहीं मानी जाती, किन्तु पारमिताओं की पूर्ति का दीर्घकालीन अभ्यास अर्थात पुण्यसंचय बुद्धत्व प्राप्ति के मार्ग की विशेषता मानी जाती है।

13.5 सौत्रान्तिक दर्शन की विशेषतायें

क्षणभङ्ग सिद्धि

बौद्ध लोग, जो प्रत्येक वस्तु के उत्पाद, स्थिति और भङ्य ये तीन लक्षण मानते हैं, उनको लेकर बौद्धेतर दार्शनिकों के साथ उनके बहुत व्यापक, गम्भीर और दीर्घकालीन विवाद हैं। सौत्रान्तिकों के अनुसार उत्पाद के अनन्तर विनष्ट होने वाली वस्तु ही क्षण है। उनके अनुसार उत्पाद मात्र ही वस्तु होती है। वस्तु की त्रैकालिक सत्ता नहीं होती। कारण—सामग्री के जुट जाने पर कार्य का निष्पन्न होना ही उत्पाद है। उत्पन्न की भी स्थिति नहीं होती, अपितु उत्पाद के अनन्तर वस्तु नहीं रहती, यही उसकी भङ्गावस्था है।

सूत्रप्रामाण्य

सौत्रान्तिकों के मतानुसार ज्ञानप्रस्थान आदि सात अभिधर्मशास्त्र बुद्ध वचन नहीं हैं, अपितु वे आचार्यों की कृति हैं। वसुमित्र आदि आचार्य उन ग्रन्थों के प्रणेता हैं, अतः वे शास्त्र हैं, न कि बुद्धवचन या आगम। ऐसा मानने पर भी अर्थात सूत्रपिटक मात्र को प्रमाण मानने परी इनके मत में अभिधर्म का आभाव या त्रिपिटक का अभाव नहीं हैं। जिन सूत्रों में वस्तु के स्वलक्षण और सामान्य लक्षण आदि की विवेचना की गई है, वे सूत्र ही अभिधर्म हैं, जैसे अर्थविनिश्चयसूत्र आदि। बुद्धवचन 84,000 धर्मस्कन्ध, 12 अंग एवं तीन पिटकों में संग्रहीत होते हैं। परवर्ती सौत्रान्तिक सूत्रों का नेयार्थ और नीतार्थ में विभाजन भी करते हैं।

परमाणुवाद

सौत्रान्तिक मत में परमाणु निरवयव एवं द्रव्यसत् माने जाते हैं। ये परमाणु ही स्थूल रूपों के आरम्भक होते हैं। जब परमाणुओं से स्थूल रूपों का आरम्भ होता है, तब एक संस्थान में विद्यमान होते हुए भी इनमें परस्पर स्पर्श नहीं होता। सौत्रान्तिक मत में ऐसा कोई रूप नहीं होता, जो अनिदर्शन और अप्रतिघ होता हो, जैसा कि अविज्ञप्ति नामक रूप की सत्ता वैभाषिक मानते हैं। इनके अनुसार अविज्ञप्तिरूप की स्वलक्षणसत्ता नहीं है, उसकी मात्र प्रज्ञप्तिसत्ता है।

द्रव्यसत्त्व—प्रज्ञप्तिसत्त्व

सौत्रान्तिकों के अनुसार वे ही पदार्थ द्रव्यसत माने जाते हैं, जो अपने स्वरूप को स्वयं अभिव्यक्त करते हैं तथा जिनमें अध्यारोपित स्वरूप का लेशमात्र भी नहीं होता। उदाहरणस्वरूप रूप, वेदना आदि धर्म वैसे ही हैं। जब रूप आदि धर्म अपने स्वरूप का या अपने आकार का अपने ग्राहक ज्ञानों में, ज्ञानेद्रियों अथवा आर्य ज्ञानों में आधान (अर्पण) करते हैं, तब वे किसी की अपेक्षा नहीं करते, अपितु स्वतः अपने बल से करते हैं। अपि च, चक्षुरादि प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा योगिज्ञान जब रूप आदि का साक्षात्कार करते हैं, तब वे भी उसमें किसी कल्पित आकार का आरोपण नहीं करते। इसलिए रूप, वेदना आदि इनके मत में द्रव्यसत या परमार्थसत माने जाते हैं। पुद्गल आदि धर्म वैसे नहीं हैं। वे अपने स्वरूप का स्वतः ज्ञान में आधान नहीं करते। न तो ज्ञान में पुद्गल आदि का आभास होता है। जब यथार्थ की परीक्षा की जाती है, तब उनका स्वरूप विदीर्ण होने लगता है। केवल उनके

अधिष्ठान नाम–रूप आदि धर्म ही उपलब्ध होते हैं। पुद्‌गल कहीं उपलब्ध नहीं होता। अतः ऐसे धर्म प्रज्ञप्तिसत माने जाते हैं।

ज्ञान की साकारता

वैभाषिक आदि दर्शन के अनुसार रूप आदि विषयों का ग्रहण चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा होता है, ज्ञान द्वारा नहीं। इन्द्रियों के द्वारा गृहीत नील, पीत आदि विषयों का चक्षुर्विज्ञान आदि इन्द्रिय–विज्ञान अनुभव करते हैं अर्थात इन्द्रियों में प्रतिबिम्बित आकार ही इन्द्रियविज्ञानों का विषय हुआ करता है, अन्यथा विज्ञान बिना आकार के ही होता है। सौत्रान्तिक दर्शन के अनुसार नील, पीत आदि विषय अपना आकार स्वग्राहक ज्ञान में अर्पित करते हैं, फलतः विज्ञान विषयों के आकार से आकरित हो जाते हैं। ज्ञानगत आकार के द्वारा ही विषय अपने को प्रकाशित करते हैं। यदि ऐसा नहीं माना जाएगा तो विज्ञान की बिना अपेक्षा किये ही विषय का प्रकाश होने लगेगा। अतः जहाँ विषय का अवभास होता है, वह ज्ञान ही है। फलतः ज्ञान में प्रतिभासित नील, पीत आदि विषयों की बाह्यसत्ता सिद्ध होती है।

कार्य और कारण की भिन्नकालिकता

कारण हमेशा कार्य से पूर्ववर्ती होता है, इस पर सौत्रान्तिकों का बड़ा आग्रह है। कार्य सर्वदा कारण के होने पर होता है (अन्वय) और न होने पर नहीं होता है (व्यतिरेक)। यदि कार्य और कारण दोनों समान काल में होंगे तो कारण में कार्य को उत्पन्न करने के स्वभाव की हानि का दोष होगा, क्योंकि कारण के काल में कार्य विद्यमान ही है। इस स्थिति में कारण की निरर्थकता का भी प्रसंग (दोष) होगा। इसलिए वैभाषिकों को छोड़कर सौत्रान्तिक आदि सभी बौद्ध दार्शनिक परम्पराएं कारण को कार्य से पूर्ववर्ती ही मानती हैं। वैभाषिक कारण को कार्य का समकालिक तो मानते ही हैं, कभी–कभी तो कार्य से पश्चात्कालिक कारण भी मानते हैं। स्थविरवादी भी सहभू हेतु, पश्चाज्जात हेतु आदि मानते हैं।

प्रहाण और प्रतिपत्ति

वैभाषिक आदि जैसे अर्हत के द्वारा प्राप्त क्लेशप्रहाण और प्राप्त आर्यज्ञान की हानि (पतन) मानते हैं, वैसे सौत्रान्तिक नहीं मानते। सौत्रान्तिकों का कहना है कि क्लेशप्रहाण और आर्यज्ञान का अधिगम चित्त के धर्म हैं और चित्त के दृढ़ होने से उनके भी दृढ़ होने के कारण उनकी हानि की सम्भावना नहीं है। इस विषय का विस्तृत विवरण प्रमाणवार्तिक ख्2, और उसके अलंकारभाष्य में अवलोकनीय है।

ध्यानाङ्गों की विशेषता

नौ समापत्तियाँ (4 रूपी, 4 अरूपी और निरोधसमापत्ति) होती हैं। इसमें सौत्रान्तिकों और वैभाषिकों में मतभेद नहीं है। किन्तु निरोधसमापत्ति के बारे में सौत्रान्तिकों की कुछ विशेषता है। वैभाषिकों के अनुसार निरोधसमापत्ति अवस्था में चित्त और चौतसिकों का सर्वथा निरोध हो जाता है, यहाँ तक कि उनकी वासनाएं भी

अवशिष्ट नहीं रहतीं। क्योंकि वासनाओं की आधार चित्तसन्तति का सर्वथा निरोध हो चुका है। हाँ, उनकी प्राप्ति आदि विप्रयुक्त संस्कार अवशिष्ट रह सकती हैं।

प्रमाण आदि सम्यग्ज्ञान

विज्ञान की साकारता के आधार पर सौत्रान्तिक प्रमाणों की व्यवस्था करते हैं। विज्ञान की साकारता का प्रतिपादन पहले किया जा चुका है। प्रमाणों में स्वसंवेदन प्रत्यक्ष की स्थापना सौत्रान्तिकों की विशेषता है। सौत्रान्तिकों की ज्ञानमीमांसा में ज्ञान और उनके भेदों की चर्चा है।

बुद्ध, बोधिसत्त्व और बुद्धकाय

पारमिताओं की साधना के आधार पर बोधिसत्त्वों की चर्या का वर्णन सूत्रपिटक में प्रायः जातकों में उपलब्ध होता हैं। बुद्धत्व ही बोधिसत्त्वों का अन्तिम पुरुषार्थ है क्योंकि उसके द्वारा ही वे बहुजन का हित सम्पादन करने में पूर्ण समर्थ होते हैं। इसके लिए वे तीन असंख्येय कल्प पर्यन्त ज्ञानसम्भार का अर्जन करते हैं। जम्बूद्वीप का आर्य बोधिसत्त्व बुद्धत्व के सर्वथा योग्य होता है। कामधातु के अन्य द्वीपों में तथा अन्य धातु और योनियों में उत्पन्न काय से बुद्धत्व की प्राप्ति सम्भव नहीं है।

13.6 वैभाषिक दर्शन (सर्वास्तिवाद)

इनका बहुत कुछ साहित्य नष्ट हो गया है। इनका त्रिपिटक संस्कृत में था। इनके अभिधर्म में प्रमुख रूप में सात ग्रन्थ हैं, जो प्रायः मूल रूप में अनुपलब्ध हैं या आंशिक रूप में उपलब्ध हैं।

चीनी भाषा में इनका और इनकी विभाषा टीका का अनुवाद उपलब्ध है।

वे सात ग्रन्थ इस प्रकार हैं–

ज्ञानप्रस्थान,

प्रकरणपाद,

विज्ञानकाय,

धर्मस्कन्ध,

प्रज्ञप्तिशास्त्र,

धातुकाय एवं

संगीतिपर्याय।

वैभाषिक और सर्वास्तिवादी दोनों अभिधर्म को बुद्धवचन मानते हैं।

13.6.1 परिभाषा

सर्वास्तिवाद शब्द में 'सर्व' का अर्थ तीनों काल तथा 'अस्ति' का अर्थ द्रव्यसत्ता है अर्थात जो निकाय तीनों कालों में धर्मों की द्रव्यसत्ता करते हैं, वे सर्वास्तिवादी हैं,परमार्थ के अनुसार जो अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न, आकाश, प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध–इन सबका अस्तित्व स्वीकार करते हैं, वे सर्वास्तिवादी हैं।

वसुबन्धु कहते हैं कि जो प्रत्युत्पन्न और अतीत कर्म के उस प्रदेश (हिस्से) को, जिसने अभी फल नहीं दिया है, उसे सत् मानते हैं तथा अनागत और अतीत कर्म के उस प्रदेश (हिस्से) को, जिसने फल प्रदान कर दिया है, उसे असत् मानते हैं, वे विभज्यवादी हैं, न कि सर्वास्तिवादी। उनके मतानुसार जिनका वाद यह है कि अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न सबका अस्तित्व है, वे सर्वास्तिवादी हैं। सर्वास्तिवादी आगम और युक्ति के आधार पर तीनों कालों की सत्ता सिद्ध करते हैं। उनका कहना है कि सूत्र में भगवान ने अतीत, अनागत और प्रत्युत्पन्न तीनों कालों में होने वाले रूप आदि स्कन्धों की देशना की है (रुपमनित्यमतीतमनागतम् इत्यादि)। युक्ति प्रस्तुत करते हुए वे कहते है कि अतीत, अनागत की सत्ता न होगी तो योगी में अतीत, अनागत विषयक ज्ञान ही उत्पन्न न हो सकेगा, जबकि ऐसा ज्ञान होता है तथा यदि अतीत नहीं है तो अतीत कर्म अनागत में कैसे फल दे सकेगा? अर्थात नहीं दे सकेगा। अतः इन और अन्य अनेक युक्तियों के आधार पर सिद्ध होता है कि अतीत, अनागत की सत्ता है।

13.6.2 हेतु फलवाद

इसे वैभाषिकों का कार्य–कारण भाव भी कह सकते हैं। इनके मत में छह हेतु, चार प्रत्यय और चार फल माने जाते हैं।

छह हेतु इस प्रकार हैं–

कारणहेतु,

सहभूहेतु,

सभागहेतु,

सम्प्रयुक्तकहेतु,

सर्वत्रगहेतु एवं

विपाकहेतु।

चार प्रत्यय हैं, यथा–

हेतु–प्रत्यय,

समनन्तर–प्रत्यय,

आलम्बन–प्रत्यय एवं

अधिपति–प्रत्यय।

चार फल हैं, यथा–

विपाकफल,

अधिपतिफल,

निष्यन्दफल एवं

पुरुषकारफल।

कारणहेतु–

सभी धर्म अपने से अन्य सभी धर्मों के कारणहेतु होते हैं। कोई भी धर्म अपना कारणहेतु नहीं होता। अर्थात सभी धर्म उत्पन्न होने वाले समस्त संस्कृत धर्मों के कारणहेतु होते हैं, क्योंकि इनका उनके उत्पाद में अविघ्नभाव से अवस्थान होता है। आशय यह है कि कार्यों के उत्पाद में विघ्न न करना कारणहेतु का लक्षण है।

सहभूहेतु–

सहभूहेतु वे धर्म हैं, जो परस्पर एक–दूसरे के फल होते हैं। जैसे चारों महाभूत परस्पर एक दूसरे के हेतु और फल होते हैं, यथा–एक तिपाही के तीनों पाँव एक–दूसरे को खड़ा रखते हैं। सभी संस्कृत धर्म यथासम्भव सहभूहेतु हैं, बशर्ते कि वे अन्योऽन्यफल के रूप में सम्बद्ध हों।

सभागहेतु–

सदृश धर्म सभागहेतु होते हैं। सदृश धर्म सदृश धर्मों के सभागहेतु होते हैं। यथा–कुशल धर्म कुशल के और क्लिष्ट धर्म क्लिष्ट धर्मों के सभागहेतु होते हैं।

सम्प्रयुक्तकहेतु –

चित्त और चौतसिक सम्प्रयुक्तक हेतु होते हैं। वे ही चित्त–चौतसिक परस्पर सम्प्रयुक्तकहेतु होते हैं, जिनका आश्रय सम या अभिन्न होता है। जैसे चक्षुरिन्द्रिय का एक क्षण एक चक्षुर्विज्ञान और तत्सम्प्रयुक्त वेदना आदि चौतसिकों का आश्रय होता है। इसी तरह मन–इन्द्रिय का एक क्षण, एक मनोविज्ञान एवं तत्सम्प्रयुक्त चौतसिकों का आश्रय होता है। वे हेतु सम्प्रयुक्तक कहलाते हैं, जिनकी सम प्रवृत्ति होती है। चित्त और चौतसिक पाँच समताओं से सम्प्रयुक्त होते हैं, क्योंकि उनके आश्रय, आलम्बन और आकार एक ही होते हैं। क्योंकि वे एक साथ उत्पन्न होते हैं। क्योंकि इनका काल भी एक ही होता है। इन पाँच समताओं में से यदि एक का भी अभाव हो तो उनकी सम–प्रवृत्ति नहीं हो सकती। ऐसा स्थिति में वह सम्प्रयुक्त नहीं हो सकते।

सर्वत्रगहेतु –

पूर्वोत्पन्न सर्वत्रग स्वभूमिक क्लिष्ट धर्मों के सर्वत्रगहेतु होते हैं। अर्थात् पूर्वोत्पन्न अर्थात् अतीत या प्रत्युत्पन्न स्वभूमिक सर्वत्रग बाद में उत्पन्न होने वाले स्वभूमिक क्लिष्ट धर्मों के सर्वत्रगहेतु होते हैं। सर्वत्रग हेतु क्लिष्ट धर्मों के सामान्य कारण हैं। ये निकायान्तरीय क्लिष्ट धर्मों के भी हेतु होते हैं। अर्थात् इनके प्रभाव से अन्य निकायों (शरीरों) में सपरिवार क्लेश उत्पन्न होते हैं।

विपाकहेतु–

अकुशल और सास्रव कुशल धर्म विपाकहेतु होते हैं। क्योंकि विपाक देना इनकी प्रकृति हैं अव्याकृत धर्म विपाकहेतु नहीं हो सकते, क्योंकि वे दुर्बल होते हैं।

फलव्यवस्था–

विपाकफल अन्तिम विपाकहेतु से उत्पन्न होता है। इसके दो अर्थ किये जाते हैं, यथा– एक विपाक का हेतु और दूसरा विपाक ही हेतु। विपाक शब्द के दोनों अर्थ युक्त हैं। प्रथम कारण हेतु का अधिपतिफल होता है। सभाग और सर्वत्रग हेतु का निःष्यन्द फल होता है तथा सहभूहेतु और सम्प्रयुक्तकहेतु का पुरुषकार फल होता है।

13.6.3 वैशिष्टय –

वैभाषिकों को छोड़कर अन्य सभी बौद्ध कार्य और कारण को एककालिक नहीं मानते। किन्तु वैभाषिकों की यह विशेषता है वे कि हेतु और फल को एककालिक भी मानते हैं, यथा–सहजात (सहभू) हेतु।

सत्यद्वय व्यवस्था

वैभाषिक भी अन्य बौद्धों की भाँति दो सत्यों की व्यवस्था करते हैं। सत्य दो हैं, यथा–

संवृतिसत्य एवं

परमार्थसत्य।

संवृतिसत्य –

अवयवों का भेद अर्थात उन्हें अलग–अलग कर देने पर जिस विषय में तदबुद्धि का नाश हो जाता है, उसे संवृति–सत्य कहते हैं, जैसे घट या अम्बु (जल)। जब घट का मुद्गर आदि से विनाश कर दिया जाता है और जब वह कपाल के रूप में परिणत हो जाता है, तब उस (घट) में जो पहले घटबुद्धि हो रही थी, वह नष्ट हो जाती है। इसी तरह अम्बु का बुद्धि द्वारा विश्लेषण करने पर अम्बुबुद्धि भी समाप्त हो जाती है। इसी प्रकार उपकरणों द्वारा या बुद्धि द्वारा विश्लेषण करने पर जिन विषयों में तदविषयक बुद्धि का विनाश हो जाता है, वे धर्म संवृतिसत्य कहलाते हैं। सांवृतिक दृष्टि से घट या अम्बु कहने वाला व्यक्ति सत्य ही बोलता है, मिथ्या नहीं, अतः इन्हें 'संवृतिसत्य' कहते हैं।

परमार्थ सत्य–

संवृतिसत्य से विपरीत सत्य परमार्थसत्य है। अर्थात उपकरण या बुद्धि द्वारा भेद कर देने पर भी जिन विषयों में तदविषयक बुद्धि का नाश नहीं होता, वे धर्म 'परमार्थसत्य' यथा– रूप, वेदना, ज्ञान, निर्वाण आदि। रूप का परमाणु में विभाजन कर देने पर भी रूपबुद्धि नष्ट नहीं होती। इसी तरह अन्य विषयों के बारे में भी जानना चाहिए। ये धर्म परमार्थतः सत्य होते हैं, अतः 'परमार्थसत्य' कहलाते हैं। अथवा जो धर्म आर्य योगी के समाहित लोकोत्तर ज्ञान द्वारा जैसे गृहीत होते हैं, उसी रूप में पृष्ठलब्ध ज्ञान द्वारा भी गृहीत होते हैं, वे ''परमार्थसत्य' हैं। यदि वैसे ही गृहीत नहीं होते तो वे संवृति सत्य हैं।

दुःखसत्य, समुदयसत्य, निरोधसत्य एवं मार्गसत्य–इस तरह चार सत्य होते हैं। ऊपर जो दो सत्य कहे गये हैं, उनसे इनका कोई विरोध नहीं है। चार आर्यसत्य दो में या दो सत्य चार में परस्पर संग्रहीत किये जा सकते हैं। जैसे निरोध सत्य परमार्थ सत्य है तथा शेष तीन संवृतिसत्य।

13.6.4 परमाणु विचार

वैभाषिक मत में परमाणु निरवयव माने जाते हैं। संघात होने पर भी उनका परस्पर स्पर्श नहीं होता। परमाणु द्विविध हैं, यथा—

द्रव्यपरमाणु एवं

संघातपरमाणु।

अकेला निरवयव परमाणु द्रव्यपरमाणु कहलाता है।

संघात परमाणु में कम से कम आठ परमाणु अवश्य रहते हैं, यथा 4 महाभूतों (पृथ्वी, अप्, तेजस् और वायु) के तथा चार उपादाय रूपों (रूप, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य) के परमाणु एक कलाप (संघात) में निश्चित रूप से रहते हैं। यह व्यवस्था कामधातु के संघात के बारे में है। कामधातु का एक परमाणुकलाप, जिसमें शब्द और इन्द्रिय परमाणु नहीं है, वह निश्चय ही अष्टद्रव्यात्मक होता है।सौत्रान्तिक द्रव्यपरमाणु की सत्ता नहीं मानते, वे केवल संघात परमाणु ही मानते हैं।आचार्य वसुबन्धु भी सौत्रान्तिक के इस मत से सहमत हैं।

13.7 माध्यमिक दर्शन (शून्यवाद)

सत्त्व (सत्ता) और असत्त्व (असत्ता) के मध्य में स्थित होना 'माध्यमिक' शब्द का अर्थ है अर्थात सभी धर्म परमार्थतः (सत्यतः) सत नहीं हैं और संवृतितः (व्यवहारतः) असत भी नहीं हैं— ऐसी जिनकी मान्यता है, वे 'माध्यमिक' कहलाते हैं।माध्यमिकों के भेद—माध्यमिक दो प्रकार के होते हैं, यथा—

स्वातन्त्रिक माध्यमिक एवं

प्रासंगिक माध्यमिक।

'स्वातन्त्रिक' और 'प्रासंगिक'— यह नामकरण भोट देश के विद्वानों द्वारा किया गया है। भारतीय मूल ग्रन्थों में यद्यपि उनके सिद्धान्तों की चर्चा और वाद—विवाद उपलब्ध होते हैं, किन्तु उपर्युक्त नामकरण उपलब्ध नहीं होता।

13.7.1 स्वातंत्रिक माध्यमिक

व्यावहारिक सत्ता की स्थापना में मतभेद के कारण इनके भी दो भेद होते हैं, यथा—

सूत्राचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक एवं

योगाचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक।

सूत्राचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक

ये लोग व्यवहार की स्थापना प्रायः सौत्रान्तिक दर्शन की भाँति करते हैं। इसलिए इन्हें 'सौत्रान्तिक स्वातन्त्रिक माध्यमिक' भी कहते हैं अर्थात अठारह धातुओं में संग्रहीत धर्मों की स्थापना व्यवहार में ये सौत्रान्तिकों की भाँति करते हैं। आचार्य भावविवेक या भव्य एवं ज्ञानगर्भ आदि इस मत के प्रमुख आचार्य हैं।

विचार बिन्दु –

इनके मतानुसार व्यवहार में बाह्यार्थ की सत्ता मान्य है। इन्द्रियज ज्ञान मिथ्याकार नहीं होते, अपितु सत्याकार होते हैं। वे (ज्ञान) अपने विषय के आकार को ग्रहण करते हुए उन (विषयों) का ग्रहण करते हैं।सूत्राचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक पूर्वापरकालिक कार्यकारणभाव मानते हैं, समकालिक नहीं अर्थात कारण और कार्य का एक काल में (युगपद्) समवस्थान नहीं होता।दशभूमक सूत्र के 'चित्तमात्रं भो जिनपुत्रा यदुत त्रैधातुकम्ख्१,' इस वचन का अर्थ ये लोग ऐसा नहीं मानते कि इसके द्वारा बाह्यार्थ का निराकरण और चित्तमात्रता की स्थापना की गई है, अपितु इस वचन के द्वारा चित्त से अतिरिक्त कोई ईश्वर, महेश्वर आदि इस लोक का कर्ता है, जैसा तैर्थिक (बौद्धेतर दार्शनिक) मानते हैं, उस (मान्यता) का खण्डन किया गया है, बाह्यार्थ का नहीं।

लंकावतार सूत्र के :

दृश्यं न विद्यते बाह्यं चित्तं चित्रं हि दृश्यते।

देहभोगप्रतिष्ठानं चित्तमात्रं वदाम्यहम्।। –(लंकावतार, 3:33)

इस वचन का अभिप्राय भी बाह्यार्थ के निषेध में नहीं है, अपितु बाह्यार्थ की परमार्थतः सत्ता नहीं है– इतना मात्र अर्थ है। इतना ही नहीं, जितने भी सूत्रवचन विज्ञप्तिमात्रता का प्रतिपादन करते हुए से दृष्टिगोचर होते हैं, भावविवेक के मतानुसार उनका वैसा अर्थ नहीं है। अर्थात् विज्ञाप्तिमात्रता किसी भी सूत्र का प्रतिपाद्य अर्थ नहीं है। स्वलक्षणपरीक्षाकृ विज्ञानवादियों के मतानुसार प्रज्ञापारमितासूत्रों में प्रतिपादित सर्वधर्मनिःस्वभावता का तात्पर्य यह है कि परिकल्पितलक्षण लक्षणनिःस्वभाव हैं, परतन्त्रलक्षण उत्पत्तिनिःस्वभाव हैं तथा परिनिष्पन्नलक्षण परमार्थनिःस्वभाव हैं।

भावविवेक विज्ञानवादियों से पूछते हैं कि उस परिकल्पित लक्षण का स्वरूप क्या है, जो लक्षणनिः स्वभाव होने के कारण निःस्वभाव कहलाता है। यदि रूपादिविषयक शब्द एवं कल्पनाबुद्धि से इसका तात्पर्य है तो यह महान् अपवादक होगा, क्योंकि शब्द और कल्पनाबुद्धि पंचस्कन्धों में संग्रहीत होने वाली वस्तु हैं।

योगाचार स्वातन्त्रिक माध्यमिककृ ये लोग निःस्वभावतावादी माध्यमिक होते हुए भी व्यवहार की स्थापना योगाचार दर्शन की भाँति करते हैं, अतः 'योगाचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक' कहलाते हैं। ये व्यवहार में बाह्यार्थ की सत्ता नहीं मानते, अतः तीनों धातुओं की विज्ञप्तिमात्र व्यवस्थापित करते हैं। आचार्य शान्तरक्षित, कमलशील आदि इस मत के प्रमुख आचार्य हैं। इनके सिद्धान्त इस प्रकार हैं, यथा–

परमार्थतः पुद्गल और धर्मों की स्वभावसत्ता पर विचार,

व्यवहारतः बाह्यार्थ की सत्ता पर विचार,

आर्यसन्धिनिर्मोचनसूत्र का वास्तविक अर्थ तथा

परमार्थतः सत्ता का खण्डन करने वाली प्रधान युक्ति का प्रदर्शन।

13.7.2 प्रासंगिक माध्यमिक

जो माध्यमिक केवल 'प्रसंग' का प्रयोग करते हैं, वे प्रासंगिक माध्यमिक कहलाते हैं। सभी भारतीय दर्शनों में स्वपक्ष की स्थापना और परपक्ष के निराकरण की विधा दृष्टिगोचर होती हैं माध्यमिक सभी धर्मों को निःस्वभाव (शून्य) मानते हैं। प्रासंगिक माध्यमिकों का कहना है कि जब हेतु, साध्य, पक्ष आदि सभी शून्य है तो ऐसी स्थिति में यह उचित नहीं है कि शून्यता को साध्य बनाकर उसे हेतु प्रयोग आदि के द्वारा सिद्ध किया जाए। इस स्थिति में एक ही उपाय अवशिष्ट रहता है कि जो दार्शनिक हेतुओं के द्वारा वस्तुसत्ता सिद्ध करते हैं, उनके प्रयोगों (अनुमानप्रयोगों) में दोष दिखाकर यह सिद्ध किया जाए कि उनके साधन उनके साध्य को सिद्ध करने में असमर्थ हैं। इस उपाय से जब स्वभाव सत्ता (वस्तुसत्ता) सिद्ध नहीं होगी तो यही निःस्वभावता की सिद्धि होगी अर्थात स्वभावसत्ता का निषेध ही निःस्वभावता की सिद्धि है। इसलिए परपक्ष का निराकरण मात्र माध्यमिक को करना चाहिए। स्वतन्त्र रूप से हेतुओं का प्रयोग करके स्वपक्ष की सिद्धि करना माध्यमिकों के विचारों के वातावरण के सर्वथा विपरीत है। अतः परपक्ष निराकरण मात्र पर बल देने के कारण ये लोग 'प्रासंगिक' माध्यमिक कहलाते हैं। जबकि भावविवेक, शान्तरक्षित आदि माध्यमिक आचार्य इन विचारों से सहमत नहीं हैं, उनका कहना है कि सभी धर्मों के परमार्थतः निःस्वभाव (शून्य) होने पर भी व्यवहार में उनकी सत्ता होती है, अतः स्वतन्त्र रूप से हेतु, दृष्टान्त आदि का प्रयोग करके शून्यता की सिद्धि की जा सकती है। अतः ये लोग 'स्वातन्त्रिक' माध्यमिक कहलाते हैं। ज्ञात है कि प्रासंगिक व्यवहार में भी वस्तु की सत्ता नहीं मानते। इन्हीं उपर्युक्त बातों के आधार पर स्वातन्त्रिक और प्रासंगिक माध्यमिकों ने अपने–अपने ढंग से अपने–अपने दर्शनों का विकास किया है।

13.7.3 धर्मनैरात्म्य

आचार्य बुद्धपालित का कहना है कि इन सब वचनों के द्वारा भगवान ने सभी धर्मों को अनात्म कहा है। उन्हें माया, मरीचि, स्वप्न एवं प्रतिबिम्ब की तरह कहा है। इन सभी संस्कारों में तथ्यता अर्थात सस्वभावता नहीं है, सभी मिथ्या और प्रपंजात्मक है– ऐसा कहा है।बुद्धपालित कहते हैं कि यहाँ 'अनात्म' शब्द निःस्वभाव के अर्थ में है, क्योंकि 'आत्मा' शब्द स्वभाववाची है। इसलिए 'सभी धर्म अनात्म हैं' का अर्थ 'सभी धर्म निःस्वभाव हैं'– यह होता है। उपर्युक्त बुद्धवचन हीनयान पिटक में भी हैं, अतः वहाँ भी धर्मनैरात्म्य सप्रतिपादित हैं।आचार्य चन्द्रकीर्ति भी बुद्धपालित के उपर्युक्त व्याख्यान से सहमत हैं। उनका भी कहना है कि श्रावकपिटक में भी धर्मनैरात्म्य प्रतिपादित है।

13.7.4 पुद्गल नैरात्म्य

वैभाषिक से लेकर स्वातन्त्रिक माध्यमिक पर्यन्त सभी स्वयूथ्य सिद्धान्तवादियों के मत में यह माना जाता है कि 'पुद्गल स्कन्धों से भिन्न लक्षणवाला, स्वतन्त्र एवं द्रव्यसत् नहीं हैं'। इसे (पृथक् द्रव्यतः सत्ता के अभाव को) ही वे 'पुद्गलनैरात्म्य' कहते हैं।

उनका यह भी कहना है कि आत्मदृष्टि 'अहम्' के आश्रय (आधार) आत्मा को स्कन्धों के स्वामी की भाँति तथा स्कन्धों को उसके दास की भाँति ग्रहण करती है। क्योंकि 'मेरा रूप, मेरी वेदना, मेरी संज्ञा' इत्यादि प्रकार से ग्रहण किया जाता है, इसलिए वे स्कन्ध उस आत्मा के हैं और इसलिए वे आत्मा के अधीन हैं। इसलिए आत्मदृष्टि पाँचों स्कन्धों को आत्मा के अधीन रूप में ग्रहण करती है। अतः स्वामी की भाँति, स्कन्धों से पृथक् लक्षण वाले, स्वतन्त्र आत्मा का जैसा अवभास (प्रतीति) होता है तथा उसी के अनुरूप उसका 'सत' के रूप में जो अभिनिवेश किया जाता है, वैसा अभिनिवेश ही पुद्‌गल को 'द्रव्यसत' ग्रहण करने का आकार–प्रकार है। पुद्‌गल की उस प्रकार की द्रव्यसत्ता का खण्डन हो जाने पर 'पुद्‌गल' स्कन्धों में उपचरितमात्र या आरोपित मात्र रह जाता है। 'मात्र' शब्द द्वारा पुद्‌गल की स्कन्धों से भिन्नार्थता का निषेध किया जाता है।

'शास्त्रों में की गई तत्त्व मीमांसा विवाद–प्रियता के लिए नहीं, अपितु विमुक्ति (मोक्ष या निर्वाण) के लिए की गई है'– चन्द्रकीर्ति के मध्यमकावतार में उक्त इस वचन के अनुसार माध्यमिक शास्त्रों में वस्तुस्थिति की जितनी भी युक्तिपूर्वक परीक्षाएं की गई हैं, वे सभी प्राणियों के मोक्ष लाभ के लिए ही की गई हैं।

पुद्‌गल एवं धर्मों के प्रति स्वभावाभिनिवेश के कारण ही सभी प्राणी संसार में बंधे हुए हैं। 'अहम् अस्मि' (मैं हूँ) इस प्रकार की बुद्धि के आलम्बन पुद्‌गल एवं उसके सन्ततिगत धर्म हैं, उन (पुद्‌गल एवं धर्म) दोनों में पुद्‌गलात्मा और धर्मात्मा नामक आत्मद्वय का जो अभिनिवेश होता है, वहीं संसार में बाँधनेवाला प्रमुख बन्धन है। अतः जिन पुद्‌गल एवं धर्मों में आत्मा (पुद्‌गलात्मा और धर्मात्मा) के रूप में ग्रहण होता है, युक्ति द्वारा निषेध करने के भी मुख्य आधार वे दो ही होते हैं। अतः सभी युक्तियाँ इन दो आत्माओं की निषेधक के रूप में ही संग्रहीत होती हैं।शास्त्रकारों ने एकानेक स्वभावरहितत्त्व ख्3,, वज्रकणयुक्ति ख्4,, सदसदनुपपत्तियुक्ति ख्5,, चतुष्कोटिकोत्पादानुपपत्तियुक्ति ख्6, तथा प्रतीत्यसमुत्पादयुक्ति ख्7, आदि अनेक युक्तियों का शास्त्रों में वर्णन किया है।

दशभूमकसूत्र में दस समताओं द्वारा षष्ठभूमि में अवतरित होने की देशना की गई है। सर्वधर्म–अनुत्पाद के रूप में समता का प्रतिपादन करने से अन्य समताओं का प्रतिपादन सुकर हो जाता है– ऐसा सोचकर आचार्य नागार्जुन ने मूलामध्यमिककारिका में :

न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्कचन केचन॥

इस कारिका को प्रस्तुत किया है। फलतः धर्मनैरात्म्य (शून्यता) को सिद्ध करने की प्रमुख युक्ति उनके अनुसार यही चतुष्कोटिकोत्पादानुपपत्ति युक्ति ही है।यह चतुष्कोटिक उत्पाद की अनुपत्ति भी प्रतीत्यसमुत्पाद से ही सिद्ध होती है, क्योंकि वस्तुओं की अहेतुक, ईश्वर, प्रकृति, काल आदि विषमहेतुक तथा स्वतः, परतः एवं उभयतः उत्पत्ति उनके प्रतीयसमुत्पन्न होने से सम्भव नहीं हो पाती। वस्तुओं के प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से ही अहेतुक, विषमहेतुक, स्वतः परतः उत्पाद आदि को ये कल्पनाएं युक्ति द्वारा परीक्षाक्षम नहीं हो पातीं। इसलिए इस प्रतीत्यसमुत्पाद युक्ति के द्वारा कुदृष्टि के समस्त जानों का समुच्छेद किया जाता है।

अंकुर आदि बाह्य वस्तुएं और संस्कार आदि आन्तरिक वस्तुएं क्रमशः बीज आदि तथा अविद्या आदि हेतुओं पर निर्भर होकर ही उत्पन्न होती हैं। यही कारण है कि उनके उत्पाद आदि सभी स्वलक्षणतः सिद्ध स्वभाव से शून्य हैं तथा वे स्वतः परतः, उभयतः, अहेतुतः या विषमहेतुतः उत्पन्न नहीं होते। इस तरह उनके स्वभावतः होने का निषेध किया जाता है। अतः समस्त कुदृष्टि जालों का उच्छेद करने वाली तथा परमार्थसत्ता का निषेध करने वाली प्रधान युक्ति प्रतीत्यसमुत्पाद ही है। प्रासंगिक माध्यमिक तो इसे युक्तिराज कहते हैं।

13.8 योगाचार दर्शन (विज्ञानवाद)

जो 'बाह्यार्थ सर्वथा असत हैं और एकमात्र विज्ञान ही सत है'– ऐसा मानते हैं, वे विज्ञानवादी कहलाते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं, यथा

आगमानुयायी और

युक्ति–अनुयायी।

आर्य असङ्ग, वसुबन्धु आदि आगमानुयायी तथा आचार्य दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि युक्ति–विज्ञानवादी हैं।विज्ञानवादियों का एक भिन्न प्रकार से भी द्विविध विभाजन किया जाता है, यथा–

सत्याकार विज्ञानवादी एवं
मिथ्याकार विज्ञानवादी।

भोटदेशीय विद्वानों के मतानुसार आगमानुयायी और युक्ति–अनुयायी दोनों प्रकार के विज्ञानवादियों में सत्याकारवादी और मिथ्याकारवादी होते हैं।

13.8.1 पदार्थ मीमांसा

विज्ञानवाद के अनुसार प्रमेयों को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं, यथा–

परिकल्पित लक्षण,

परतन्त्र लक्षण तथा

परिनिष्पन्न लक्षण।

परिकल्पित लक्षण –

लक्षण को स्वभाव भी कहते हैं, अतः इसे परिकल्पित स्वभाव भी कहा जा सकता है। स्वग्राहक कल्पना द्वारा आरोपित होना परिकल्पित स्वभाव का लक्षण है। रूप, शब्द आदि बाह्य एवं जड़ पदार्थों में तथा इन्द्रिय, विज्ञान आदि आन्तरिक धर्मों में विकल्पों (कल्पनाओं) द्वारा ग्राह्य–ग्राहक की पृथक् द्रव्यसत्ता एवं बाह्यार्थता का आरोपण किया जाता है, वही बाह्यार्थारोप या ग्राह्य–ग्राहकद्वैत का आरोप 'परिकल्पित लक्षण' है। यहाँ जिस परिकल्पितलक्षण का प्रतिपादन किया जा रहा है, वह परिनिष्पन्नलक्षण या धर्मनैरात्म्य का निषेध्य होता है।

परतन्त्र लक्षण –

हेतु–प्रत्ययों से उत्पन्न होना परतन्त्र स्वभाव का लक्षण है। समस्त चित्त–चौतसिक एवं उनमें आभासित रूप आदि धर्म परतन्त्र लक्षण हैं। उदाहरणार्थ रूप और रूपज्ञ चक्षुर्विज्ञान दोनों स्वभावतः अभिन्न और परतन्त्र

लक्षण हैं, क्योंकि दोनों एक ही वासना बीज के फल हैं, एक ही काल में उत्पन्न होते हैं और एक ही काल में निरुद्ध होते हैं।

परनिष्पन्नलक्षण –

रूप आदि परतन्त्र धर्मों में आरोपित बाह्यार्थत्व एवं अभिधेयस्वलक्षणत्व परिकल्पित लक्षण हैं, जो परतन्त्र धर्मों में नितान्त असत हैं। परतन्त्र धर्मों में परिकल्पित लक्षण की वस्तुतः अविद्यमानता या रहितता ही 'परिनिष्पन्न लक्षण' है और विज्ञानवादी शास्त्रों में यही (परिनिष्पन्न लक्षण) धर्मधातु, तथता, भूतकोटि, परमार्थ सत्य आदि शब्दों से निर्दिष्ट है। यह परिनिष्पन्न लक्षण परतन्त्र लक्षण से न भिन्न होता है और न अभिन्न। वह स्वभावतः अभिन्न और व्यावृत्तितः भिन्न होता है।

13.8.2 प्रमाण और प्रमाणफल व्यवस्था

बौद्धन्याय के मत में भी दो प्रमाण और प्रत्यक्ष के चार प्रकार वैसे ही माने जाते हैं, जैसे सौत्रान्तिक मानते हैं।

प्रमाण

अविसंवादकता और अपूर्वगोचरता प्रमाण का लक्षण है। अर्थात वही ज्ञान प्रमाण कहला सकता है, जिसमें यह सामर्थ्य हो कि अपने द्वारा दृष्ट वस्तु को प्राप्त करा सके तथा जो अपने बल से वस्तु को जाने, अन्य पर निर्भर होकर नहीं।

प्रामाण्य

ज्ञान की अविसंवादकता और अपूर्वगोचरता स्वतः सिद्ध होती है। या परतः अर्थात अन्य प्रमाणों से? यदि स्वतः प्रामाण्य निश्चित होता है तो किसी भी व्यक्ति को प्रमाण और अप्रमाण के विषय में कभी अज्ञान ही नहीं होगा। यदि परतः दूसरे प्रमाण से प्रामाण्य निश्चित होता है तो उस दूसरे प्रमाण के प्रामाण्य के लिए अन्य तीसरे प्रमाण की आवश्यकता होगी। इस तरह अनवस्था दोष होगा?

समाधान

जितने प्रमाण होते हैं, वे सभी न तो एकान्त रूप से स्वतः प्रमाण होते और न परतः प्रमाण होते हैं उनमें कुछ स्वतः प्रमाण होते हैं और कुछ परतः।

प्रश्न – स्वतः प्रामाण्य और परतः प्रामाण्य क्या है? याने प्रमाण स्वबल से विषय का निश्चय करता है या विषयी का निश्चय करता है? अर्थात विषय के निश्चय से प्रामाण्य निश्चित होता है कि विषयी के निश्चय से?

समाधान – जो प्रमाण अपनी अविसंवादकता का निश्चय स्वतः अपने बल से कर लेता है, वह 'स्वतः प्रमाण' तथा जिसकी अविसंवादकता परतः दूसरे प्रमाण से निश्चित होती है, वह 'परतः प्रमाण' कहलाता है।

प्रश्न – यदि स्वतः या परतः प्रमाण का लक्षण उक्त प्रकार का है तो अनुमान स्वतः प्रमाण नहीं हो सकेगा, जब कि सिद्धान्ततः अनुमान स्वतः प्रमाण माना जाता है, क्योंकि चार्वाक का कहना है कि धूम हेतु से वह्नि को जानने वाला अनुमान अपनी अविसंवादकता का निश्चय स्वतः नहीं कर सकता?

समाधान – दोष नहीं है। यद्यपि चार्वाक पूछने पर यह कहेगा कि अनुमान प्रमाण नहीं है, फिर भी उसकी चित्त सन्तति में धूम से वह्नि को जानने वाला ज्ञान उत्पन्न होता है और उससे वह जानता है कि पर्वत में वह्नि है और उस ज्ञान को वह सही ज्ञान भी समझता है। अतः अनुमान स्वतः प्रमाण सिद्ध होता है। सभी स्वसंवेदन स्वतः प्रमाण हैं, क्योंकि वे अपनी अविसंवादकता को स्वयं निश्चयपूर्वक जानते हैं। योगी प्रत्यक्ष स्वतः प्रमाण है। पृथग्जन का मानस प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। अभिज्ञा प्राप्त पृथग्जन योगी का मानस प्रत्यक्ष स्वतः प्रमाण होता है। आर्य का मानस प्रत्यक्ष भी स्वतः प्रमाण है। साधनप्रवृत्त, अपोहप्रवृत्त, सामान्यलक्षण, सविकल्प, निर्विकल्प इत्यादि का स्वरूप एवं विचार सौत्रान्तिकों के समान ही इस मत में भी मान्य हैं।

13.8.3 प्रमाणफल

इसकी दो प्रकार से व्यवस्था की जाती है, –

बाह्यार्थवादी–साधारण –

नीन प्रमेय में अनधिगत अविसंवादी नीलाकार ज्ञान प्रमाण ता विप्रतिपत्तिनिरास पूर्वक नील–परिच्छेद (अवपिरीत अवबोध) प्रमाणफल है।

असाधारण–

प्रज्ञप्त नील प्रमेय में अनधिगत अविसंवादी ज्ञान प्रमाण तथा प्रज्ञप्त नील का परिच्छेद 'प्रमाणफल' हैं।

13.9 सारांश

सौत्रांतिक मत हीनयान परंपरा का बौद्ध दर्शन है। इसका प्रचार भी लंका में है। इस मत के अनुसार पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं, अनुमान होता है। अतः उसे बाह्यानुमेयवाद कहते हैं। सौत्रान्तिक पाठशाला की शुरुआत बौद्ध मुनि कुमारलात से मानी जाती है। ये बाह्यार्थ को अनुमेय मानते हैं। यद्यपि बाह्यजगत की सत्ता दोनों स्वीकार करते हैं, किन्तु दृष्टि के भेद से एक के लिए चित्त निरपेक्ष तथा दूसरे के लिए चित्त सापेक्ष अर्थात् अनुमेय सत्ता है। सौत्रान्तिक मत में सत्ता की स्थिति बाह्य से अन्तर्मुखी है।वैभाषिक मत, हीनयान परम्परा का बौद्ध दर्शन है। इसका प्रचार भी लंका में है। यह मत बाह्य वस्तुओं की सत्ता तथा स्वलक्षणों के रूप में उनका प्रत्यक्ष मानता है। अतः उसे बाह्य प्रत्यक्षवाद अथवा ''सर्वास्तित्ववाद'' कहते हैं।

शून्यवाद या शून्यता बौद्धों की महायान शाखा माध्यमिक नामक विभाग का मत या सिद्धान्त है जिसमें संसार को शून्य और उसके सब पदार्थों को सत्ताहीन माना जाता है (विज्ञानवाद से भिन्न)।

''माध्यमिक न्याय'' ने ''शून्यवाद'' को दार्शनिक सिद्धांत के रूप में अंगीकृत किया है। इसके अनुसार ज्ञेय और ज्ञान दोनों ही कल्पित हैं। पारमार्थिक तत्व एकमात्र ''शून्य'' ही है। ''शून्य'' सार, असत्, सदसत् और

सदसद्विलक्षण, इन चार कोटियों से अलग है। जगत् इस ''शून्य'' का ही विवर्त है। विवर्त का मूल है संवृति, जो अविद्या और वासना के नाम से भी अभिहित होती है। इस मत के अनुसार कर्मक्लेशों की निवृत्ति होने पर मनुष्य निर्वाण प्राप्त कर उसी प्रकार शांत हो जाता है जैसे तेल और बत्ती समाप्त होने पर प्रदीप।

योगाचार या विज्ञानवाद बौद्ध दर्शन एवं मनोविज्ञान का एक प्रमुख शाखा है। यह भारतीय महायान की उपशाखा है। इस सम्प्रदाय की स्थापाना ईसा की तीसरी शताब्दी में मैत्रेय या मैत्रेयनाथ ने की थी। इस दर्शन का विकास असंग एवं वसुबन्धु ने किया। योग तथा आचार पर विशेष बल देने के कारण इसे योगाचार कहते हैं। योगाचार को 'विज्ञानवाद', विज्ञप्तिवाद, या विज्ञप्तिमात्रतावाद भी कहते हैं।

योगाचार्य इस बात की व्याख्या करता है कि हमारा मन किस प्रकार हमारे अनुभवों की रचना करता है। योगाचार दर्शन के अनुसार मन से बाहर संवेदना का कोई स्रोत नहीं है।

इस सम्प्रदाय मत के अनुसार चित्त (मन) या विज्ञान के अतिरिक्त संसार के किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। समस्त ब्राह्य पदार्थ, जिन्हें हम देखते हैं वे विज्ञान मात्र हैं। योगाचार द्वारा आलय विज्ञान को वश में करके विषय ज्ञान की उत्पत्ति को रोका जा सकता है, ऐसा हो जाने पर व्यक्ति निर्वाण को प्राप्त करता है।

इस संप्रदाय का मत हे कि पदार्थ (बाह्य) जो दिखाई पड़ते हैं, वे शून्य हैं । वे केवल अन्दर ज्ञान में भासते हैं, बाहर कुछ नहीं हैं । जैसे, 'घट' का ज्ञान भीतर आत्मा में है, तभी बाहर भासता है, और लोग कहते हैं कि यह घट है । यदि यह ज्ञान अंदर न हो तो बाहर किसी वस्तु का बोध न हो। अतः सब पदार्थ अन्दर ज्ञान में भासते हैं और बाह्य शून्य है। इनका यह भी मत है कि जो कुछ है, वह सब दुःख स्वरूप है, क्योंकि प्राप्ति में संतोष नहीं होता, इच्छा बनी रहती है ।

13.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. सौत्रान्तिक और वैभाषिक दर्शनों में अन्तर बताइये।

   ....

2. वैभाषिक दर्शन की व्याख्या कीजिये।

   ....

3. विज्ञानवाद के विषय में विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये।

   ....

13.11 संदर्भ ग्रन्थ

रिचर्ड किंग : फिलॉसफी ईस्ट और वैस्ट, वाल्यूम 44, अक्टू0 1994
रिचर्ड किंग : एशियन फिलॉसफी, वाल्यूम, मार्च 1998
जोशी, लाल मनी : स्टडीज इन द बुद्धस्टिक कल्चर ऑफ इण्डिया
बरूआ, बिभूति : बुद्धिस्ट सैक्ट्स एण्ड सैक्टरिस्म 2008
दाण्डेकर, आर.एन. : ए हिस्ट्री ऑफ द गुप्ताज, 1941
आचार्य नरेन्द्र देव : बौद्धधर्म–दर्शन

इकाई–14 भारतीय संस्कृति को बौद्ध धर्म का योगदान

इकाई की रूपरेखा

14.0 प्रस्तावना

14.1 उद्देश्य

14.2 राजनीतिक क्षेत्र में योगदान

14.3 सामाजिक क्षेत्र में योगदान

14.4 शिक्षा तथा साहित्य के क्षेत्र में योगदान

14.5 कला तथा स्थापत्य के क्षेत्र में योगदान

14.6 नैतिक उत्कर्ष की स्थापना

14.7 दर्शन के क्षेत्र में योगदान

14.8 सांस्कृतिक सम्बन्ध

14.9 सारांश

14.10 बोध प्रश्न

14.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

14.0 प्रस्तावना

विश्व इतिहास में छठी शताब्दी एक महान धार्मिक परिवर्तन, सामाजिक क्रांति आध्यात्मिक उन्नति तथा नए धार्मिक सिद्धांतों के प्रस्फुटन जो मानव को अज्ञानता से ज्ञान के प्रकाश की ओर ले जाने वाला युग था। वैदिक विचारधारा एवं कर्मकांड के विरोध में एक नवीन सिद्धांत का परिवर्तन हुआ जो मानवता नैतिकता तथा कर्म प्रधानता पर केंद्रित था। सामाजिक, आर्थिक संस्कृति ने नए धार्मिक विचारों के उदय के लिए पृष्ठभूमि तैयार की। डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने छठी शताब्दी पूर्व को कई देशों में आध्यात्मिक तथा अशांति एवं बौद्धिक हलचल के लिए महत्वपूर्ण मानते हैं।

14.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेगें–

- बौद्व धर्म का भारतीय संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों के योगदान के विषय में।
- बौद्व संघ एवं संघाराम के विषय में।
- कला एवं स्थापत्य तथा दर्शन के क्षेत्र के विषय में।

14.2 राजनीतिक क्षेत्र में योगदान

राजनीति के क्षेत्र में बौद्व धर्म का योगदान अत्यन्त उल्लेखनीय है। इस समय गणराज्यों की तरह शासन प्रणाली अपनाई गयी थी। गणराज्यों की बैठक संघ की तरह सम्पन्न होती थी। आहूत बैठक नियमानुसार कार्यवाही सम्पादित होती थी। कोई भी निर्णय सामूहिक रूप से होता था। संघ में विचार अभिव्यक्ति की आजादी थी। कोई भी व्यक्ति अपनी बात को रख सकता था। धर्म प्रचारार्थ की व्यवस्था बौद्व धर्म की देन है। बौद्व धर्म ने राजनीति में वैचारिक स्वन्त्रता का समर्थन किया। और सभी के सक्रिय सहभागिता एवं कार्यान्वयन पर बल दिया था।

14.3 सामाजिक क्षेत्र में योगदान

सामाजिक क्षेत्र में बौद्व धर्म ने अनेक प्रकार के परिवर्तन किये। बौद्ध धर्म में सामाजिक समरसता, सद्भाव तथा समतामूलक समाज की स्थापना का प्रयास किया। इस धर्म में अहिंसा का प्रभाव दृष्टिगत होता है। समाज में स्त्री का सामाजिक स्तर को बढ़ावा दिया गया। स्त्रियां समाज में घूम फिर सकती थी। भिक्षु संघ की तरह स्त्रियां भी अपना संघ बनाने लगी थी। भारत का वृहत्तर भारत की नींव डालनें का श्रेय इसी धर्म को दिया जाता है। इस धर्म ने बाह्यय देशों के साथ सम्पर्क का मार्ग प्रशस्त किया।

14.4 शिक्षा तथा साहित्य के क्षेत्र में योगदान

बौद्ध धर्म ने भारतीय संस्कृति को निम्नलिखित क्षेत्रों में प्रभावित किया नंबर वन बौद्धिक चिंतन का विकास बौद्ध धर्म के अनुसार वही सिद्धांत ग्रहण किया जाए जो तर्कसंगत तथा वैज्ञानिक को भारतीय समाज में संघ तथा संग्राम के प्रचलन का प्रचलन पौधों ने की प्रारंभ किया था जिसमें बिच्छू निवास करते थे इसके पहले हिंदू तपस्वी

सन्यासी जंगलों पहाड़ों में रहा करते थे सामूहिक रूप से भिक्षुओं के रहने की प्रणाली का विकास बहुत धर्म में ही किया बिच्छू संघ की स्थापना बौद्ध धर्म संघ की गणतंत्र आत्मक पद्धति में राज्यों को अनेक गणतंत्र आत्मक सिद्धांतों को स्वीकार करने में सहायता की खुली बहस बहुमत के आधार पर निर्णय न्यायपालिका का महत्व कल्याणकारी राज्य की कल्पना को बौद्ध धर्म से बल मिला बौद्ध भी कशु ने स्वार्थ भाव से धर्म प्रचार में संलग्न रहते थे तथा जनता के कासन को दूर करने का प्रयास करते थे भारतीय समाज में निस्वार्थ सेवा भावना तथा धर्म भावना का प्रारंभ बौद्ध धर्म में ही किया था

साहित्यिक प्रगति बौद्ध धर्म में भारतीय संस्कृति को एक विशाल साहित्य प्रदान किया जिस समय–समय पर अनेक बौद्ध धर्म ग्रंथो की रचनाएं विशेष कर पाली भाषा में की गई जो समय की प्रचलित जैन भाषा थी।

14.5 कला एवं स्थापत्य के क्षेत्र में योगदान

कला की उन्नति, स्थापत्य तथा वास्तु कला के क्षेत्र में बौद्ध धर्म का महत्वपूर्ण योगदान है। अनेक अनेक बौद्ध विहारों, संघारामों स्तूपों तथा चैत्यों का निर्माण समय पर होता रहा जिससे भारतीय संस्कृति समृद्ध तथा उन्नत होती रही यही नहीं बौद्ध धर्म से संबंधित अशोक जैसे महान शासको ने विशालकाय प्रस्तर स्तंभों का निर्माण करवाया जो भारतीय कला की अनुपम निधि है। बौद्ध धर्म से सम्बन्धित अनेक प्रकार की मूर्तियां निर्मित हुई जो तत्कालीन कला शैली की विशेषता को अभिव्यक्त करती है। अजंता जैसे गुफाएं निर्मित की गई जिनकी दीवारों पर विभिन्न प्रकार के रंग–बिरंगे चित्रों को सजीवता के साथ किया गया है। इस काल में गांधार तथा मथुरा कला शैली का समुचित विकास हुआ।

14.6 नैतिक उत्कर्ष की स्थापना

भिक्षुओं में आपसी स्वभाव तथा सामंजस्य से रहने की भावना बौद्ध धर्म में ही दिया था नैतिक उत्कर्ष की स्थापना बौद्ध धर्म ने अपने अहिंसा तथा प्राणियों के प्रति दया भाव से बड़े–बड़े शासको को प्रभावित कर उनकी राजनीतिक सर्वाधिक महत्वाकांक्षा को और युद्ध किया तथा उनके संपूर्ण जीवन को ही परिवर्तित कर दिया। मौर्य शासक अशोक के मन और मस्तिष्क को इस धर्म में पूर्णतः बदल दिया तथा उसे साम्राज्यवादी क्रिया–कलापों से विमुख कर अहिंसात्मक तथा करुणा जनित कार्यों की ओर संलग्न किया। यह बौद्ध धर्म की ही देन है कि अशोक जैसे महान शासक ने युद्ध तथा संघर्ष के मार्ग को सर्वदा के लिए त्याग कर अहिंसा तथा शांति का मार्ग अपनाया उसके बाद अनेक शासको ने बौद्ध धर्म के यहीं से तथा दया की शिक्षा का अनुसरण किया।

14.7 दर्शन के क्षेत्र में योगदान

दार्शनिक क्षेत्र में बौद्ध धर्म का अप्रतिम योगदान है। बौद्ध आचार्य नागार्जुन के शून्यवाद का प्रभाव संभवत शंकराचार्य के मायावद पर पड़ा। दोनों विद्वानों की कुछ समानताओं के आधार पर कुछ विचार को नहीं शंकराचार्य पर प्रछन्न बुद्ध होने का आरोप लगाया। बौद्ध धर्म में मांसाहार का निषेध था। विदेश में भी बहुत धर्म के प्रभाव से हिंसा का अपराध किया गया निरामिष आहार को अपेक्षा करें तो उत्तम माना गया है इस प्रकार बौद्ध धर्म ने अपने सिद्धांतों एवं आदर्श से प्रभावित कर एक नवीन चिंतनपरक धर्म प्रदान किया जो पूर्णता मानवतावादी।

14.8 सांस्कृतिक सम्बन्ध

बौद्ध धर्म के माध्यम से भारत का सांस्कृतिक संबंध विभिन्न देशों के साथ स्थापित हुआ। कुषाण जैसे राजवंशों ने भी बौद्ध धर्म को स्वीकार किया। कनिष्क जिसने बौद्ध धर्म अपना कर मध्य एशिया के विशेष क्षेत्र में इसका प्रचार–प्रसार किया। विदेश से घनिष्ठ संबंध भारत तथा बाहर के दूसरे देशों में अहिंसा तथा दया जैसी भावना ने बौद्ध भिक्षुओं को एक स्थान पर सम्मिलित तथा संगठित होकर रहने की प्रेरणा प्रदान की थी जो बौद्ध सिद्धांत की अपनी दिन है।

14.9 सारांश

बौद्ध धर्म ने भारतीय संस्कृति को अनेक दृष्टियों से प्रभावित किया। भारतीय धर्म चिंतन दर्शन तथा संस्कृति को बौद्ध धर्म की अभूतपूर्व जिसने प्रज्ञा तथा ज्ञान के क्षेत्र में क्रांति उत्पन्न की ज्ञान तथा देशना की दिशा में किसने विश्व को भी प्रभावित किया तथा एक नई नवीन चिंतन पद्धति की ओर आकृष्ट किया। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म ने भारतीय संस्कृति के विभिन्न आयामों को प्रभावित किया।

14.10 बोध प्रश्न

1. बौद्ध धर्म के भारतीय संस्कृति के आयामों का वर्णन कीजिए।

....

....

2. कला एवं स्थापत्य के क्षेत्र में प्रभाव का वर्णन कीजिए।

....

....

3. नैतिक उत्कर्ष के क्षेत्र में बौद्ध धर्म का मूल्यांकन कीजिए।

....

....

144.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. चौधरी,, राय कृष्ण प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, भारती भवन(पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स,पटना,1989

2. पाण्डे,जी.सी, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास,

3.सहाय,शिवस्वरूप,प्राचीन भारतीय धर्म एवं दर्शन,मोतीलाल बनारसी दास,दिल्ली,पुनमुर्द्रण, 2010

इकाई 15– जैन धर्म : जैन धर्म की प्राचीनता और उत्पत्ति, पार्श्वनाथ का चातुर्याम, महावीर का जीवन और उपदेश, दिगंबर एवं श्वेताम्बर संप्रदायों में अंतर, जैन धर्म का प्रसार, भारतीय संस्कृति को जैन धर्म का योगदान

इकाई की रूपरेखा

15.0 प्रस्तावना

15.1 उद्देश्य

15.2 जैन धर्म की प्राचीनता और उत्पत्ति

15.3 पार्श्वनाथ का चातुर्याम

15.4 महावीर का जीवन और उपदेश

15.5 दिगम्बर एवं श्वेताम्बर संप्रदायों में अंतर

15.6 जैन धर्म का प्रसार

15.7 भारतीय संस्कृति को जैन धर्म का योगदान

15.8सारांश

15.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

15.10 संदर्भ ग्रन्थ

15.0 प्रस्तावना

जैन धर्म भारत की श्रमण परम्परा से निकला प्राचीन धर्म और दर्शन है। जैन अर्थात् कर्मों का नाश करनेवाले 'जिन भगवान' के अनुयायी। सिन्धु घाटी से मिले जैन अवशेष जैन धर्म को सबसे प्राचीन धर्म का दर्जा देते है।

सम्मेत्त शिखर, राजगिर, पावापुरी, गिरनार, शत्रुंजय, श्रवणबेलगोला आदि जैनों के प्रसिद्ध तीर्थ हैं। पर्यूषण पर्व या दशलाक्षणी, और श्रुत पंचमी इनके मुख्य त्यौहार हैं। अहमदाबाद, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश और बंगाल राजस्थानआदि के अनेक जैन आजकल भारत के अग्रगण्य उद्योगपति और व्यापारियों में गिने जाते हैं।

जैन धर्म के उद्‌भव की स्थिति अस्पष्ट है। जैन ग्रंथो के अनुसार धर्म वस्तु का स्वाभाव समझाता है, इसलिए जब से सृष्टि है तब से धर्म है, और जब तक सृष्टि है, तब तक धर्म रहेगा, अर्थात् जैन धर्म सदा से अस्तित्व में था और सदा रहेगा। इतिहासकारो द्वारा जैन धर्म का मूल भी सिंधु घाटी सभ्यता से जोड़ा जाता है जो हिन्द आर्य प्रवास से पूर्व की देशी आध्यात्मिकता को दर्शाता है। सिन्धु घाटी से मिले जैन शिलालेख भी जैन धर्म के सबसे प्राचीन धर्म होने की पुष्टि करते है। अन्य शोधार्थियों के अनुसार श्रमण परम्परा ऐतिहासिक वैदिक धर्म के हिन्द–आर्य प्रथाओं के साथ समकालीन और पृथक हुआ।

जैन ग्रंथो (आगम) के अनुसार वर्तमान में प्रचलित जैन धर्म भगवान आदिनाथ के समय से प्रचलन में आया। यहीं से जो तीर्थंकर परम्परा प्रारम्भ हुयी वह भगवान महावीर या वर्धमान तक चलती रही जिन्होंने ईसा से 527 वर्ष पूर्व निर्वाण प्राप्त किया था। भगवान महावीर के समय से पीछे कुछ लोग विशेषकर यूरोपियन विद्वान् जैन धर्म का प्रचलित होना मानते हैं। उनके अनुसार यह धर्म बौद्ध धर्म के पीछे उसी के कुछ तत्वों को लेकर और उनमें कुछ ब्राह्मण धर्म की शैली मिलाकर खडाकिया गया। जिस प्रकार बौद्धों में 24 बुद्ध है उसी प्रकार जैनों में भी 24 तीर्थंकर है। जैन शब्द जिन शब्द से बना है। जिन बना है 'जि' धातु से जिसका अर्थ है जीतना। ''जिन अर्थात जीतने वाला'' जिसने स्वयं को जीत लिया उसे जितेंद्रिय कहते हैं।

15.1 उद्‌देश्य

इस इकाई का मुख्य उद्‌देश्य आपको जैन धर्म की प्राचीनता और उत्पत्ति, पार्श्वनाथ का चातुर्याम, महावीर का जीवन और उपदेश, दिगंबर एवं श्वेताम्बर संप्रदायों में अंतर, जैन धर्म का प्रसार, भारतीय संस्कृति को जैन धर्म का योगदान से संबंधित जानकारी प्रदान करना है।

15.2 जैन धर्म की प्राचीनता और उत्पत्ति

जैनधर्म और उसकी परम्पराएँ प्राचीनतम है। अनेक भारतीय विद्वान् इस तथ्य की पुष्टि कर चुके हैं। प्राचीन भारतीय वाङमय में जो सामग्री उपलब्ध है और विभिन्न उत्खननों में भूगर्भ से जो भग्नावशेष प्राप्त हुए है, वे भी इसकी परम्पराओं को वेद–पूर्व सिद्ध करते हैं। वैदिक पद्‌मपुराण में जैनियों के चौबीस तीर्थकरों के होने की बात कही गई है। युगप्रवर्तक तीर्थंकर ऋषभदेव और उनके बाद के तेईस तीर्थंकरों में से कतिपय तीर्थंकरों के

नामों का वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों में बड़े गौरव के साथ उल्लेख हुआ है। हनुमन्नाटक में वांछित फलप्राप्ति हेतु जैनों के परमोपास्य अर्हंत–तीर्थंकरों की वन्दना की गई है। आचार्य विनोबा भावे, श्री बाचस्पति गैरोला, स्व. श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' और श्री बुद्धप्रकाश प्रभृति विद्वान् जैनधर्म को अत्यन्त प्राचीन सिद्ध कर चुके है।

महाभारत में विष्णु के सहस्रनामों में अनेक जैन तीर्थंकरों के नामों का स्मरण किया गया है। मोहन–जो–दडो से प्राप्त सामग्री के आधार पर तीर्थंकरों एवं जैनत्व के प्रभाव की भलीभांति पुष्टि हो चकी है। भाषा के आधार पर भी यह स्पष्ट हो चुका है कि भारत की प्राचीन भाषा, और लिपि–ब्राह्मी श्री ऋषभदेव तीर्थंकर की पुत्री ब्राह्मी के नाम से प्रचलित रही है। अधिक क्या कहें? इस देश का प्रचलित नाम भारत श्रीऋषभदेव के पुत्र भरत की देन है–इस देश का नाम उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध है। उक्त कथन के संदर्भ में प्रचुर प्रमाण उपलब्ध है, जिनका दिग्दर्शन कराना हर किसी के लिए सर्वथा आवश्यक है, फिर भी, पाठकों की जानकारी के लिए कुछेक उद्धृत करना अत्यन्त आवश्यक है।

वैदिक युग में नात्यों और श्रमण ज्ञानियों की परम्परा का प्रतिनिधित्व भी जैनधर्म ने ही किया। जैनधर्म के प्रवर्तक महात्माओं को तीर्थंकर कहा जाता है। ज्ञान का प्रवर्तन करने वाले वीतराग महात्मा ही तीर्थंकर कहलाये । धर्मरूपी तीर्थ का निर्माण करनेवाले ज्ञानमना मनिजन ही तीर्थंकर थे : 'तरति संसारमहार्णव येन निमित्तेन तत्तीर्थ मिति'।

ये तीर्थंकर महात्मा संख्या में चौबीस हुए। जिनमें सर्वप्रथम ऋषभदेव और अन्तिम महावीर थे । उनका क्रम इस प्रकार है– (१) ऋषभदेव, (२) अजितनाथ, (३) संभवनाथ, (४) अभिनन्दननाथ, (५) सुमतिनाथ, (६) पद्मप्रभु, (७) सुपावनाथ, (८) चन्द्रप्रभ, (६) सुविधिनाथ (पुष्पदन्त), (१०) शीतलनाथ, (११) श्रेयांसनाथ, (१२) वासुपूज्य, (१३) विमलनाथ, (१४) अनन्तनाथ, (१५) धर्मनाथ, (१६) शान्तिनाथ, (१७) कुन्थुनाथ, (१८) अरहनाथ, (१६) मल्लि, (२०) मुनि सुव्रतनाथ, (२१) नमिनाथ, (२२) नेमिनाथ, (२३) पार्श्वनाथ, (२४) वर्धमान महावीर। ऋग्वेद, अथर्ववेद, गोपथब्राह्मण, भागवत आदि भारतीय साहित्य के प्राचीन, मध्ययगीन ग्रन्थों में भगवान ऋषभदेव के उल्लेख सर्वत्र बिखरे हुए है, जिनसे उनकी अतिप्राचीनता और उनके व्यक्तित्व की महत्ता सिद्ध होती है । इसी प्रकार दूसरे तीर्थकर भगवान अरिष्टनेमि भी वैदिक युग के महापुरुष प्रतीत होते है।

''महाभारत–कालीन तीर्थकर नेमिनाथ जैनधर्म के सम्मान्य ऐतिहासिक पुरुष रहे है। जैनधर्म के ग्यारहवें तीर्थंकर श्रेयांसनाथ के नाम पर सारनाथ जस पवित्र तीर्थ की स्मृति आज भी जीवित है । इन चौबीस तीर्थकर महात्माओं में अन्तिम पार्श्वनाथ और महावीर ही ऐसे हैं जिनकी ऐतिहासिक जानकारी ठीक रूप में उपलब्ध है।''

श्री वाचस्पति गैरोला इतिहास–विषय के जाने–माने विद्वान् है । उक्त प्रसंग से तीर्थकर, श्रमण–मुनि और जैनधर्म के काल से संबंधित भारतीय मान्यताएँ प्रकाश में आजाती है।

विद्वान् लेखक ने उक्त उद्धरण में जैनियों के चौबीस तीर्थकरों के नामोल्लेख–पूर्वक तीर्थकर शब्द की जो व्युत्पत्ति दी है उससे इस बात की और भी पुष्टि होती है कि तीर्थंकरों की परम्परा अनादि है। संसार में सदा ही सन्त, महात्मा, त्यागी, तपस्वी होते रहे हैं और उनके पार करने में निमित्त भत तीर्थकर प्रत्येक काल में उपस्थित रहे है। डा. श्री बुद्धप्रकाश, डी. लिट् ने भी तीर्थंकरों की परम्परा को प्राचीन सिद्ध करते हए उन्हें ही विष्णु और

शिव के रूप में मानने की बात कही है। उन्होंने विष्णु व शिव के नामों का तीर्थकरों के नामों से मेल भी बिठाया है। वे लिखते हैं–

आद्य शंकाराचार्य ने भी स्पष्ट रूप में जैन और उनके उपास्य अर्हन्तों को स्वीकार किया है और अर्हन्तों की विचार–सरणि का उल्लेख किया है। वे तीर्थकर, सम्यग्दर्शन, अहंत् और जैन शब्दों को स्वीकार करते हैं।

''जैनधर्म बौद्धमत की अपेक्षा कहीं प्राचीन है। बुद्ध ने अपने लिए जो मार्ग चुना है, वह बिल्कुल नवीन मार्ग नहीं था। वह जैन साधना में से निकला था और योग कृच्छाचार एवं तपस्या की परम्परा भी जैन साधना से ही निकली। इस प्रकार जैन साधना जहाँ एक ओर बौद्ध साधना का उद्गम है, वहीं दूसरी ओर वह शैवमार्ग का भी आदिस्रोत है।

''यह सुविदित है कि जैनधर्म की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। भगवान महावीर तो अन्तिम तीर्थकर थे। मिथिला प्रदेश के लिच्छिवी गणतंत्र से, जिसकी एतिहासिकता निविवाद है, महावीर का कोटम्बिक सम्पर्क था। उन्होंने श्रमण–परम्परा को अपनी तपश्चर्या द्वारा एक नयी शक्ति प्रदान की, जिसकी पूर्णतम परम्परा का सम्मान दिगम्बर आम्नाय में पाया जाता है। भगवान महावीर से पूर्व २३ तीथंकर और हो चुके थे। उनके नाम और जन्म–वृत्तान्त जन–साहित्य में सुरक्षित है। उन्हीं में भगवान ऋषभदेव प्रथम तीर्थकर थे, जिसके कारण उन्हें आदिनाथ कहा जाता है। जैन–कला में उनका अंकन घोर तपश्चर्या की मुद्रा में मिलता है । ऋषभनाथ के चरित्र का उल्लेख श्रीमद्भागवत में भी विस्तार से आता है, और यह सोचने पर बाध्य होना पड़ता है कि इसका कारण क्या रहा होगा? भागवत में ही इस बात का उल्लेख है कि महायोगी भरत ऋषभदेव के शत–पुत्रों में ज्येष्ठ थे और उन्हों से यह देश भारतवर्ष कहलाया।''

उपलब्ध साहित्य में ऋग्वेद सर्वाधिक प्राचीन माना जाता है । दिगम्बर परम्परा और उसके युगादिप्रवर्तक ऋषभ और श्रमण दिगम्बर मुनियों का उसमें स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। इससे भी तीर्थकर–परम्परा प्राचीनतम सिद्ध होती है। प्रसिद्ध इतिहास–ज्ञाता डा. मगलदेव शास्त्री के शब्दों में:

''ऋग्वेद के एक सूक्त (१०।१३६) में मुनियों का अनोखा वर्णन मिलता है। उनको वातराना–दिगम्बर, पिशंगा बसते मला –मत्तिका को धारण करते हए पिंगल वर्ण और केशी, प्रकीर्णक इत्यादि कहा गया है। यह वर्णन श्रीमद्भागवत (पंचम स्कन्ध) में दिये हुए जैनियों के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के वर्णन से अत्यन्त समानता रखता है। वहाँ स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि ऋषभदेव ने बातरशना श्रमण मुनियों के धर्मों को प्रकट करने की इच्छा से अवतार लिया था।''

यद्यपि तीर्थकर महावीर के प्रादवि को आज पर्याप्त समय व्यतीत हो चका है, तथापि तीथंकर ऋषभदेव को परम्परा स्थिर रखने और इस काल में उसे प्रगतिशील व लोकोपकारी बनाने के लिए उन्होंने हमें–देश को सर्वस्व दिया है। सन्देह नहीं कि तीर्थंकर महावीर द्वारा प्रतिपादित (प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव के अर्थात् जैनधर्म के) सिद्धान्त .सर्व विश्व का कल्याण करने में समर्थ है–देश को स्वतन्त्र सार्वभौम सत्ता की प्राप्ति होना, जैन–तीर्थंकरों की परम्परा में उत्पन्न (तीर्थकर वर्षमान महावीर द्वारा प्रतिपादित) अहिसा–धर्म का ही फल है। सभी जानते है कि

महात्मा गांधी ने अहिंसा को आधार मानकर हिंसक आन्दोलन का संचालन किया था। श्री टी. एन. रामचन्द्रन के शब्दों में–

''महावीर ने एक ऐसी साध–संस्था का निर्माण किया, जिसकी भित्ति पूर्ण अहिंसा पर आधारित थी। उनका 'अहिंसा परमो धर्मः' का सिद्धान्त सारे संसार में २५०० वर्षों तक अग्नि की तरह व्याप्त हो गया। अन्त में इसने नव भारत के पिता महात्मा गांधीजी को अपनी ओर आकर्षित किया। यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है कि अहिंसा के सिद्धान्त पर ही महात्मा गांधी ने नवीन भारत का निर्माण किया '' ।

भारत के महान् सन्तों, जैसे जैनधर्म के तीर्थंकर ऋषभदेव एवं भगवान महावीर के उपदेशों को हमें पढ़ना चाहिये । आज उन्हें अपने जीवन में उतारने का सबसे ठीक समय आ पहुंचा है क्योंकि जैनधर्म का तत्त्वज्ञान अनेकान्त (सापेक्ष पद्धति) पर आधारित है और जैनधर्म का आचार अहिंसा पर प्रतिष्ठित है। जैनधर्म कोई पारम्परिक विचारों, ऐहिक व पारलौकिक मान्यताओं पर अन्धश्रद्धा रखकर चलने बाला धर्म नहीं है, वह मुलतः एक विशुद्ध वैज्ञानिक धर्म है। उसका विकास एवं प्रसार वैज्ञानिक ढंग से हुआ है। क्योंकि जैनधर्म का भौतिकी विज्ञान और आत्मविद्या का क्रमिक अन्वेषण आधनिक विज्ञान के सिद्धान्तों से समानता रखता है।

जैनधर्म ने विज्ञान के सभी प्रमख सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन किया है। जेसेः पदार्थ–विद्या, प्राणिशास्त्र, मनोविज्ञान, और काल, गति, स्थिति, आकाश एवं तत्त्वानसन्धान । श्री जगदीशचन्द्र वसु ने बनस्पति में जीवन के अस्तित्व को सिद्ध कर जैनधर्म के पवित्र धर्मशास्त्र भगवतीसूत्र के वनस्पतिकायिक जीवों के चेतनत्व को प्रमाणित किया है। ''

इस प्रकार तीर्थकरों की परम्परा और उनकी दिव्य देशनाओं के प्राचीनमौलिक एवं विश्वजीवोपयोगी होने के अनेक प्रमाण उपलब्ध है। इनम से कतिपय का दिग्दर्शन पर कराया गया है। अतः यह भ्रान्ति दूर कर लेनी चाहिये कि 'जैनधर्म वर्धमान महावीर से प्रारंभ है, या बौद्ध और हिन्दूधर्म की शाखा मात्र है। तीर्थकर वर्धमान महावीर ने जैनधर्म का मार्ग दर्शाया अवश्य, पर वह मार्ग नवीन नहीं, अपितू इस यग के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव प्रभृति पार्श्वनाथ तीर्थकर–पर्यन्त सभी द्वारा प्रदर्शित प्राचीनतम धर्म है। जैनियों के चौबीस तीर्थकरों की जो परम्परा विद्यमान है, इस प्रकार इस काल में तीर्थंकरों का धर्म तीर्थकर महावीर तक निर्बाध प्रवाहित होता रहा है। तीर्थंकर महावीर चौबीसवें तीर्थंकर थे।

15.3 पार्श्वनाथ का चातुर्याम

तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जन्म आज से लगभग 2 हजार 9 सौ वर्ष पूर्व वाराणसी में हुआ था। वाराणासी में अश्वसेन नाम के इक्ष्वाकुवंशीय क्षत्रिय राजा थे। उनकी रानी वामा ने पौष कृष्ण एकादशी के दिन महातेजस्वी पुत्र को जन्म दिया, जिसके शरीर पर सर्पचिह्न था। वामा देवी ने गर्भकाल में एक बार स्वप्न में एक सर्प देखा था, इसलिए पुत्र का नाम 'पार्श्व' रखा गया। उनका प्रारंभिक जीवन राजकुमार के रूप में व्यतीत हुआ। एक दिन पार्श्व ने अपने महल से देखा कि पुरवासी पूजा की सामग्री लिये एक ओर जा रहे हैं। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि एक तपस्वी जहाँ पंचाग्नि जला रहा है, और अग्नि में एक सर्प का जोड़ा मर रहा है, तब पार्श्व ने कहाकृ 'दयाहीन' धर्म किसी काम का नहीं'।

जैन धर्म के तेवीसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथका जन्म ईसा से नवीं दसवीं शताब्दि पूर्व हुआ। वे चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर से 250 वर्ष पहले हुए थे। ऐतिहासिक शोध के आधार पर आज के इतिहास विषय के विद्वान् भगवान पार्श्वनाथ को ऐतिहासिक महापुरुष मानने लगे हैं। मेजर जनरल फर्लांग ने शोध के पश्चात् लिखा है– उस काल में सम्पूर्ण उत्तर भारत में दार्शनिक, तप–प्रधान धर्म, अर्थात् जैनधर्म अवस्थित था, जिसके आधार से ही ब्राह्मण एवं बौद्धादि धर्म संन्यास बाद में विकसित हुए। आय के गंगा तट या सरस्वती तट पर पहुँचने से पहले ही लगभग 22 प्रमुख संत अथवा तीर्थंकर जैनों को धर्मोपदेश दे चुके। थे। उनके बाद पार्श्व हुए जिन्हें अपने पूर्व के सभी 22 तीर्थकरों या ऋषियों का ज्ञान था। उनको अनेक धर्मशास्त्रों का ज्ञान था जो अपनी प्राचीनता के कारण पुराण के नाम से जाने जाते थे। डॉ. हर्मन जैकोबी जैसे लब्धप्रतिष्ठ पश्चिमी विद्वान् भगवान पार्श्वनाथ को ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं और उन्होंने जैनागमों के साथ ही बौद्धपिटकों के प्रकाश में यह सिद्धकरने का प्रयास भी किया है। अनेक अन्य विद्वान् भी जैकोबी का समर्थन करते हैं। डॉ. वासम के अनुसार भगवान महावीर बौद्धपिटकों में बुद्ध के प्रतिस्पर्द्धा के रूप में बताए गए हैं अर्थात् उनकी ऐतिहासिकता असंदिग्ध है। डॉ. चाल शार्पेटियर ने लिखा है–जैन धर्म निश्चित ही महावीर से पुराना है। उनके पूर्वगामी संत या तीर्थंकर पार्श्व निश्चित रूप से विद्यमान थे अर्थात् जैन धर्म के मूल सिद्धांत महावीर से बहुत पहले सूत्र–रूप धारण कर चुके थे।

संसार में बोध पाने वालों की तीन श्रेणियाँ मानी गई हैं– स्वयंबुद्ध, प्रत्येकबुद्ध, बुद्धबोधित । तीर्थंकरों की गणना स्वयंबुद्ध में की जाती है। वे किसी से बोध पाकर विरक्त नहीं होते। पार्श्वनाथ सहज विरक्त थे, तीस वर्ष तक गृहस्थ जीवन में रहकर भी वे उसमें आसक्त नहीं हुए। भोग्यकर्मों के फलभोगों को क्षीण जानकर पार्श्व ने संयम ग्रहण करने का संकल्प किया और मर्यादानुसार लोकान्तिक देवों ने उनसे अनुरोधकिया कि वे धर्मतीर्थ को प्रकट करें। तदनुसार पानाथ ने वर्षभर स्वर्णमुद्राओं का दान किया और पौष कृष्णा एकादशी के दिन वाराणसी नगरी के आश्रमपद उद्यान में विशाल जनसमूह के बीच अशोक वृक्ष के नीचे अपने ही हाथों से समस्त वस्त्राभूषण उतारकर पंचमुष्ठि लुंचन किया और तीन दिन के निर्जल उपवास–अष्टमतप से विशाखा नक्षत्र में तीन सौ अन्य लोगों के साथ अणगार–धर्म स्वीकार किया और उन्हें उसी समय चौथा मनः पर्यवज्ञान हो गया। दूसरे दिन आश्रमपद उद्यान से विहारकर वे कोपकटक सन्निवेश में पहुँचे। वहाँ धन्य नामक गृहस्थ के यहाँ उन्होंने परमान्न खीर से अष्टमतप का पारणा किया। देवों ने पंच–दिव्यों की वर्षा करदान की महिमा प्रकट की। आचार्य गुणभद्र ने 'उत्तरपुराण' में अष्टमतप का पारणा गुल्मखेट के राजा धन्य के यहाँ होना लिखा है।

दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् भगवान ने यह अभिग्रह किया कि छद्मस्थकाल में साधना के समय पूर्णतया समाधिस्थ रहूँगा और इस अवधि में अपने शरीर के प्रति भी कोई ममत्व नहीं रखूँगा तथा सभी प्रकार के उपसर्गों को अविचल भाव से सहन करूँगा।

केवल ज्ञान और देशना

भगवान पार्श्वनाथ का छद्यस्थकाल 83 दिन का था। चौरासीवें दिन प्रभु आश्रमपद उद्यान में अष्टमतप के साथ घातकी वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ खड़े हो गए। शुक्लध्यान के दूसरे चरण में मोहकर्म का क्षय कर उन्होंने

सम्पूर्ण धातिक कर्मों पर विजय पाई और केवलज्ञान तथा केवलदर्शन की उपलब्धि की। जिस समय उन्हें केवलज्ञान हुआ उस समय चौत्र कृष्णा चतुर्थी का दिन था। भगवान पार्श्वनाथ को केवलज्ञान की उपलब्धि से देव–देवेन्द्रों ने हर्ष प्रकट किया और समवसरण की रचना की।

अपनी प्रथम देशना में प्रभु ने फरमाया बिना धर्म के जीवन शून्य व सारहीन है। अतः धर्म की आराधना करो। कर्मजन्य आवरण और बंधन काटने का एकमात्र मार्ग धर्म– साधन है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र ही आवरण–मुक्ति का सच्चा मार्ग है, जो श्रुत और चारित्र धर्म के भेद से दो प्रकार का है। चारित्रधर्म आगार और अनगार के भेद से दो प्रकार का है। शक्ति के अनुसार इनकी आराधना करना और परमतत्त्व की प्राप्ति करना ही मानव जीवन का चरम और परम लक्ष्य है।

पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म

तत्कालीन ऋजु और प्राज्ञजनों को लक्ष्य कर भगवान पार्श्वनाथ ने जिस चारित्र–धर्म की दीक्षा दी, उसे चातुर्याम–धर्म के नाम से जाना जाता है। यम का अर्थ है दमन करना – चार प्रकार से आत्मा का दमन करना, अर्थात् उसे संयमित या नियंत्रित रखना ही चातुर्याम–धर्म का मर्म है। ये चारों याम व्रत के रूप में थे, यथाः– 1. सर्वथा प्राणातिपात विरमण – हिंसा का त्याग, 2. सर्वथा मृषावाद विरमण असत्य का त्याग, 3. सर्वथा अदत्तादान विरमण – चौर्य–त्याग, 4. सर्वथा बहिद्धादान विरमण – परिग्रह त्याग। इन चारों में ब्रह्मचर्य का पृथक् स्थान नहीं है। इसका कारण यह है कि पार्श्वनाथ के संत विज्ञ थे, अतः वे स्त्री को भी परिग्रह के अन्तर्गत समझकर बहिद्धादान में ही स्त्री और परिग्रह दोनों का अन्तर्भाव कर लेते थे। क्योंकि बहिद्धादान का अर्थ बाह्य वस्तु का आदान होता है।

इस चातुर्याम धर्म का उद्गम वेदों व उपनिषदों से बहुत पहले श्रमण संस्कृति में हो चुका था। आज वैदिक परम्परा के पुराणों, स्मृतियों एवं उपनिषदों में जो व्रतों एवं महाव्रतों के उल्लेख उपलब्ध होते हैं, वे सभी भगवान पार्श्वनाथ के उत्तरकालीन है। इतिहास के विद्वान धर्मानन्द कौशाम्बी ने भी इस बात को मान्य किया है।

15.4 महावीर का जीवन और उपदेश

जैन धर्म के 24वें तीर्थंकर महावीर स्वामी अहिंसा के मूर्तिमान प्रतीक थे। उनका जीवन त्याग और तपस्या से ओतप्रोत था। एक लँगोटी तक का परिग्रह नहीं था उन्हें। हिंसा, पशुबलि, जाति–पाँति के भेदभाव जिस युग में बढ़ गए, उसी युग में पैदा हुए महावीर और बुद्ध। दोनों ने इन चीजों के खिलाफ आवाज उठाई। दोनों ने अहिंसा का भरपूर विकास किया।

करीब ढाई हजार साल पुरानी बात है। ईसा से 599 वर्ष पहले वैशाली गणतंत्र के क्षत्रिय कुण्डलपुर में पिता सिद्धार्थ और माता त्रिशला के यहाँ तीसरी संतान के रूप में चैत्र शुक्ल तेरस को वर्द्धमान का जन्म हुआ। यही वर्द्धमान बाद में स्वामी महावीर बना। महावीर को 'वीर', 'अतिवीर' और 'सन्मति' भी कहा जाता है। बिहार के मुजफ्फरपुर जिले का आज का जो बसाढ़ गाँव है वही उस समय का वैशाली था।

वर्द्धमान को लोग सज्जंस (श्रेयांस) भी कहते थे और जसस (यशस्वी) भी। वे ज्ञातृ वंश के थे। गोत्र था कश्यप । वर्द्धमान के बड़े भाई का नाम था नंदिवर्धन व बहन का नाम सुदर्शना था। वर्द्धमान का बचपन

राजमहल में बीता। वे बड़े निर्भीक थे। आठ बरस के हुए, तो उन्हें पढ़ाने, शिक्षा देने, धनुष आदि चलाना सिखाने के लिए शिल्प शाला में भेजा गया।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मान्यता है कि वर्द्धमान ने यशोदा से विवाह किया था। उनकी बेटी का नाम था अयोज्जा (अनवद्या) । जबकि दिगम्बर सम्प्रदाय की मान्यता है कि वर्द्धमान का विवाह हुआ ही नहीं, वे बाल ब्रह्मचारी थे।

राजकुमार वर्द्धमान के माता–पिता जैन धर्म के 23वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ, जो महावीर से 250 वर्ष पूर्व हुए थे, के अनुयायी थे। वर्द्धमान महावीर ने चातुर्याम धर्म में ब्रह्मचर्य जोड़कर पंच महाव्रत रूपी धर्म चलाया। वर्द्धमान सबसे प्रेम का व्यवहार करते थे। उन्हें इस बात का अनुभव हो गया था कि इन्द्रियों का सुख, विषय–वासनाओं का सुख, दूसरों को दुःख पहुँचा करके ही पाया जा सकता है।

महावीरजी की 28 वर्ष की उम्र में इनके माता–पिता का देहान्त हो गया । ज्येष्ठ बंधु नंदिवर्धन के अनुरोध पर वे दो बरस तक घर पर रहे। बाद में तीस बरस की उम्र में वर्द्धमान ने श्रामणी दीक्षा ली। वे 'समण' बन गए। उनके शरीर पर परिग्रह के नाम पर एक लँगोटी भी नहीं रही। अधिकांश समय वे ध्यान में ही मग्न रहते। हाथ में ही भोजन कर लेते, गृहस्थों से कोई चीज नहीं माँगते थे। धीरे–धीरे उन्होंने पूर्ण आत्मसाधना प्राप्त कर ली।

वर्द्धमान महावीर ने 12 साल तक मौन तपस्या की और तरह–तरह के कष्ट झेले। अन्त में उन्हें 'केवलज्ञान' प्राप्त हुआ। केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद भगवान महावीर ने जनकल्याण के लिए उपदेश देना शुरू किया। अर्धमागधी भाषा में वे उपदेश करने लगे ताकि जनता उसे भलीभाँति समझ सके।

भगवान महावीर ने अपने प्रवचनों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पर सबसे अधिक जोर दिया। त्याग और संयम, प्रेम और करुणा, शील और सदाचार ही उनके प्रवचनों का सार था। भगवान महावीर ने श्रमण और श्रमणी, श्रावक और श्राविका, सबको लेकर चतुर्विध संघ की स्थापना की। उन्होंने कहा– जो जिस अधिकार का हो, वह उसी वर्ग में आकर सम्यक्त्व पाने के लिए आगे बढ़े। जीवन का लक्ष्य है समता पाना।। धीरे–धीरे संघ उन्नति करने लगा। देश के भिन्न–भिन्न भागों में घूमकर भगवान महावीर ने अपना पवित्र संदेश फैलाया।

भगवान महावीर ने 72 वर्ष की अवस्था में ईसापूर्व 527 में पावापुरी (बिहार) में कार्तिक (आश्विन) कृष्ण अमावस्या को निर्वाण प्राप्त किया। इनके निर्वाण दिवस पर घर–घर दीपक जलाकर दीपावली मनाई जाती है।

उपदेश

भगवान महावीर स्वामी ने दुनिया को जैन धर्म के पंचशील सिद्धांत बताए – अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, अस्तेय (चोरी न करना) और ब्रह्मचर्य। भगवान स्वामी ने अपना प्रथम उपदेश (जिसे 'बिरशासन उदया' कहा गया) महाराजा बिम्बिसार को राजगृह के समीप विपुलांचल पहाडी पर वाराकर नदी के किनारे दिया, जो मागधी या अर्द्ध–मागधी भाषा में था। आइये जानते है महावीर स्वामी के उन प्रमुख उपदेशों के बारे में जिनका हर इंसान को अपने जीवन में पालन करना चाहिए।

अहिंसा के पालन से जीवन सुखमय बनता है

महावीर स्वामी जी ने अहिंसा ही परम धर्म है' का उपदेश दिया। उन्होंने कहा अपने मन, वचन तथा कर्म से हिंसा नहीं करनी चाहिए। अहिंसा ही परम ब्रह्म है, अहिंसा ही सुख–शांति देने वाली है। यह मनुष्य का सच्चा कर्म है। इसके पालन से मानव जीवन सरल हो जाता है। महावीर स्वामी का सबसे बड़ा उपदेश सिद्धांत अहिंसा ही था।

सत्य से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है

महावीर स्वामी ने बताया कि मनुष्य को हमेशा सत्य वचन बोलने चाहिए। उन्होंने कहा कि मानव जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य 'मोक्ष' सत्य द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। अतः हमें हमेशा सत्य वचन बोलने चाहिए।

चोरी करना एक पाप व अपराध

स्वामी जी ने अस्तेय के मार्ग पर चलने पर बल दिया यानि व्यक्ति को कभी भी चोरी नहीं करनी चाहिए। चोरी करना एक पाप तथा अपराध है, जिससे करने पर व्यक्ति हमेशा परेशानियों का सामना करता रहता है और व्यक्ति पापी तथा अपराधी बनकर मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर सकता है।

लालच से व्यक्ति को कभी मुक्ति नहीं मिलती

महावीर स्वामी ने कहा कि यदि कोई व्यक्ति मोक्ष की प्राप्ति चाहता है, तो माया के पीछे नहीं भागना चाहिए यानि धन का संचय नहीं करना चाहिए। क्योंकि धन के कारण ही व्यक्ति लालची व अभिमानी हो जाता है तथा अपनी इच्छाओं को नहीं छोड़ पाता। जिसके चलते उसकी मुक्ति नहीं मिलती है।

इन्द्रियों को नियंत्रण में रखना है तो करें ब्रह्मचर्य का पालन

महावीर स्वामी ने अपने उपदेश में बताया कि जैन भिक्षुओं सहित अगर व्यक्ति ब्रह्मचर्य का पालन करे तो वह अपनी इन्द्रियों को वश में कर सकता है। जिससे व्यक्ति इस संसारिक मोह माया से विचलित नहीं होता और परमानन्द को प्राप्त कर सकता है।

स्वयं से लड़ो, दुश्मन से नहीं

भगवान महावीर स्वामी जी कहा कि आपका दुश्मन आपके अंदर ही (दोष) है। जिनसे हमें स्वयं ही लड़ना है। अगर हम अपने दोषों पर विजय अर्थात दोषों का दूर कर दे तो हमें आनन्द (मोक्ष) की प्राप्ति संभव है। बाहरी दुश्मन से लड़कर हम अपने दोषों को और बढ़ाते है, इसलिए बाहरी दुश्मन को छोड़कर अपने अंदर के दुश्मन – लालच, द्वेष, क्रोध, घमंड और घृणा आदि से लड़ना चाहिए।खुद पर विजय प्राप्त करना लाखों शत्रुओं पर विजय पाने से बेहतर है।

गलतियों पर नियंत्रण करें

व्यक्ति अधिकतर अपनी गलतियों से ही दुख पाता है। अगर वह अपनी गलतियों पर नियंत्रण पा ले तो उसे सच्चे सुख की प्राप्ति हो सकती है। अगर अनचाने में गलती होती है तो उसको दूरस्थ करना चाहिए और जीवन में ध्यान रखना चाहिए की वैसी गलती फिर दोबारा न हो, तभी व्यक्ति परम आनन्द प्राप्त कर सकता है।

घृणा से होता है विनाश

स्वामी जी ने अपने उपदेश में कहा है कि व्यक्ति को हर जीवित प्राणी के प्रति दयाभाव रखने चाहिए, घृणा नहीं। घृणा से हम केवल अपना विनाश करते हैं, इसलिए घृणा का त्याग करें।

क्रोध से होता है स्वयं का विनाश

क्रोध हमेशा अधिक क्रोध को जन्म देता है और स्वयं के विनाश का कारण भी बनता है। जबकि क्षमा व प्रेम द्वारा व्यक्ति को सम्मान प्राप्त होता है। इसलिए हमेशा क्षमा व प्रेम का विचारों को ही अपनाना चाहिए। इससे जीवन को सरल किया जा सकता है।

15.5 दिगम्बर एवं श्वेताम्बर संप्रदायों में अंतर

जैन दो प्रमुख संप्रदायों में विभाजित हैंय दिगंबर संप्रदाय (अर्थ जो ये मानते है की हमने आकाश के आलावा कुछ नही पहना हुआ है) और श्वेतांबर संप्रदाय (अर्थात् जो सफेद कपडे पहनते है)। इनमें से प्रत्येक संप्रदाय को उपसमूहों में भी विभाजित किया गया है। इन दोनों प्रमुख संप्रदाय, दिगंबर और श्वेतांबर, की उत्पत्ति महावीरजी के निर्वाण के लगभग दो सौ साल बाद हुई।

दिगम्बर और श्वेताम्बर जैन में मुख्य अंतर निम्नलिखित हैं –

1. दिगम्बर का मानना है की सिर्फ पुरुष ही मोक्ष या मुक्ति की प्राप्ति कर सकते है, महिलायें मोक्ष या मुक्ति प्राप्त नही कर सकती, इसके लिए उन्हें पुनर्जन्म लेना होगा वो भी पुरुष के रूप में। वही श्वेताम्बर लोग का मानना इसके विपरीत है वो मानते है कि महिलाएं भी पुरुषों के समान ही मुक्ति पाने में सक्षम हैं। वे सबस्त्र मुक्ति में विश्वास करते हैं।

2. दिगंबर सम्प्रदाय का मानना है कि निर्वाण या मुक्तिप्राप्त करने के लिए, इंसान को कपड़े सहित सब कुछ त्यागना पड़ेगा। इसलिए दिगंबर साधु पूरी तरह से नग्न होते हैं। वही श्वेताम्बरों का मानना है किमुक्ति प्राप्त करने के लिए नग्नता का अभ्यास आवश्यक नहीं है। इसलिए वे सफेद कपड़े पहनते हैं।

3. दिगंबर भिक्षुओं किसी भी प्रकार की संपत्ति रखने की अनुमति नहीं है। उनका मानना है कि एक सच्चे साधु का जीवन जीने के लिए सब कुछ त्यागना जरूरी है। किन्तु वे आमतौर पर तीन चीजें अपने साथ रखते हैं –पिची (मोर के गिरे हुए पंखों से बनी झाड़ू), कमंडल और शास्त्र। वही श्वेताम्बर भिक्षुओं को 14 विशिष्ट चीजें रखने की अनुमति है, जिनमे सफेद कपड़े,राजोहरण, भीक्षा का कटोरा, और किताबें शामिल हैं।

4. श्वेतांबर जैन मानते हैं कि महावीर के भ्रूण का निर्माण सबसे पहले ब्राह्मण महिला देवानंद में हुआ था । लेकिन भ्रूण का परिवर्तन गर्भाधान के 83 वें दिन भगवान इंद्र के सेनापति, हरि– नाइगामेसिन (जिसे कार्तिकेय के नाम से भी जाना जाता है) ने किया था, और भ्रूण को एक क्षत्रिय महिला, त्रिशला को स्थानांतरित कर दिया जाता है , जो राजा सिद्धार्थ की पत्नी है।

साथ ही श्वेतांबर जैनियों का मानना है कि महावीर की मां ने उनके जन्म से पहले 14 शुभ स्वप्न देखे थे। वही दिगंबर जैन महावीर भगवान् के जन्म को लेकर प्रचलित बातों को जो श्वेतांबर जैन मानते हैं उसे स्वीकार नहीं करते हैं। दिगंबर जैनियों का मानना है कि महावीर की मां ने उनके जन्म से पहले 14 के बजाय 16 सपने आये थे।

5. दिगंबर लोग मानते है कि महावीर स्वामी का विवाह नही हुआ था। उनका मानना है कि महावीर बाल ब्रह्मचारी हैं यानी उन्होंने कभी शादी नहीं की और अपने जीवनकाल में ब्रह्मचारी रहे। वही श्वेतांबर का मानना है कि सांसारिक जीवन को त्यागने से पहले महावीर का विवाह राजकुमारी यशोदा से हुआ था । इसके अलावा, उनकी प्रियदर्शन नाम की एक बेटी है (जिसे अनोजा भी कहा जाता है)

6. दिगंबर का मानना है कि एक बार एक भिक्षु सर्वज्ञ (केवला ज्ञान)प्राप्त कर लेता है, तो उसे जीवित रहने के लिए भोजन की आवश्यकता नहीं होती है। इस पर श्वेतांबर जैनियों की एक अलग राय है। वे मानते हैं कि जब तक केवली (या सर्वज्ञ) पुरुष या स्त्री ने शरीर का त्याग नहीं किया है, तब तक उन्हें शरीर के पोषण के लिए भोजन की आवश्यकता होती है।

7. श्वेतांबर का मानना है कि कैवल्य की स्थिति में महावीर स्वामी बीमारी से पीड़ित थे। हालांकि, दिगंबर का मानना है कि वह किसी भी तरह की बीमारी से पीड़ित नहीं थे।

8. दिगंबर का मानना है कि दिगम्बर मुनि या भिक्षु दिन में केवल एक बार भोजन करते हैं। वे भोजन एकत्र करने के लिए कटोरे का उपयोग नहीं कर सकते। इसलिए वे इसे अपने हाथों से इकट्ठा करते हैं और फिर इसे अपने हाथों से ही खाते हैं। वे केवल एक ही घर से भोजन एकत्र करते हैं, जहां उनका संकल्प पूरा होता है।

वही दूसरी ओर श्वेतांबर भिक्षु अपना भोजन एक कटोरे में इकट्ठा करते हैं। वे एक से अधिक घरों से स्वतंत्र रूप से उन्हें दिए गए भोजन की तलाश और संग्रह कर सकते हैं। साथ ही, वे दिन में एक से अधिक बार खा सकते हैं।

दिगम्बर जैन के अनुसारमहावीर का जन्म –582 ई.पू. महावीर की मृत्यु– 510 ई.पू., श्वेतांबर जैन के अनुसारमहावीर का जन्म दृ 599 ई.प., महावीर की मृत्यु – 527 ई.पू.

दिगंबर जैनियों का मानना है कि मंत्र की पहली पांच पंक्तियों का ही पाठ करना चाहिए।हालांकि, श्वेतांबर जैन मानते हैं कि सभी नौ पंक्तियों का पाठ करना चाहिए।

दिगंबर जैन मानते हैं कि मल्लिनाथ एक पुरुष थे।इसके विपरीत श्वेतांबर जैन मानते हैं कि मल्लिनाथ मल्ली नाम की एक महिला थीं ।

15.6 जैन धर्म का प्रसार

महावीर स्वामी के जीवन काल में ही उनके मत का मगध तथा उसके समीपवर्ती क्षेत्रों में व्यापक प्रचार हो गया। मगध नरेश अजातशत्रु तथा उसके उत्तराधिकारी उदायिन ने इसके प्रचार में योगदान दिया। महावीर ने अपने जीवन काल में एक संघ की स्थापना की, जिसमे 11 प्रमुख अनुयायी सम्मिलित थे। ये गणधर कहे गये। इन्हें अलग–अलग समूहों का अध्यक्ष बनाया गया। महावीर की मृत्यु के बाद केवल एक गणधर सुधर्मन् जीवित बचा जो जैनसंघ का उनके बाद प्रथम अध्यक्ष बना। नंद राजाओं के काल में भी जैन धर्म की उन्नति हुई, क्योंकि वे भी जैनमत के विरुद्ध नहीं लगते। हाथीगुम्फा अभिलेख से पता चलता है, कि नंद राजा कलिंग से प्रथम जिन की एक प्रतिमा उठा ले गया था। चंद्रगुप्त मौर्य के समय में भी इस धर्म का विकास हुआ होगा, क्योंकि जैन

परंपरा के अनुसार उसने जैन आचार्य भद्रबाहु की शिष्यता ग्रहण कर ली थी। उनके साथ वह अपने जीवन के उत्तरकाल में राज्य त्याग कर दक्षिण में तपस्या करने चला गया था।

भद्रबाहु जैनकल्पसूत्र से पता चलता है, कि महावीर के 20 वर्षों बाद सुधर्मन् की मृत्यु हुई तथा उसके बाद जम्बू 44 वर्षों तक संघ का अध्यक्ष रहा। अंतिम नंद राजा के समय में संभूतविजय तथा अद्रबाहू संघ के अध्यक्ष थी। ये दोनों महावीर द्वारा प्रदत्त 14 पूथ्वो (प्राचीनतम जैन ग्रंथों) के विषय में जानने वाले अंतिम व्यक्ति थे। सम्भूतविजय की मृत्यु चंद्रगुप्त मौर्य के राज्यारोहण के समय ही हुई। उनके शिष्य स्थूलभद्र हुए। इसी समय मगध में 12 वर्षों का भीषण अकाल पड़ा, जिसके फलतः भद्रबाहु अपने शिष्यों सहित कर्नाटक में चले गये। किन्तु कुछ अनुयायी स्थूलभद्र के साथ मगध में ही रुक गये। भद्रबाहु के वापस लौटने पर मगध के साधुओं से उनका गहरा मतभेद हो गया, जिसके परिणामस्वरूप जैन मत इस समय (300 ईसा पूर्व) श्वेताम्बर तथा दिगंबर नामक दो संप्रदायों में बँट गया। जो लोग मगध में रह गये थे. श्वेताम्बर कहलाये। वे श्वेत वस्त्र धारण करते थे। भद्रबाहु और उनके समर्थक, जो नग्न रहने में विश्वास करते थे, दिगंबर कहे गये। उनके अनुसार प्राचीन जैन शास्त्रों का पूर्ण ज्ञान केवल भद्रबाहु को ही था। प्राचीन जैन शास्त्र ईसा पूर्व में पाटलिपुत्र में जैन धर्म की प्रथम महासभा आयोजित की गयी। किन्तु भद्रबाहु के अनुयायियों ने इसमें भाग नहीं लिया। परिणामस्वरूप दोनों सम्प्रदायों में मतभेद बढता गया। पाटलिपुत्र की सभा में जो सिद्धांत निर्धारित किये गये वे श्वेताम्बर सम्प्रदाय के मूल सिद्धांत बन गये।

कालांतर में जैन धर्म का केन्द्र मगध से पश्चिमी भारत की ओर स्थानान्तरित हो गया। जैन साहित्य में अशोक के पौत्र संप्रति को इस मत संरक्षक बताया गया है। वह उज्जैन में शासन करता था। अतः यह जैन धर्म का एक प्रमुख केन्द्र बन गया। जैनियों का दूसरा प्रमुख केन्द्र मथुरा में स्थापित हुआ, जहाँ से अनेक अभिलेख, प्रतिमायें, मंदिर आदि मिलते हैं। कुषाण काल में मथुरा जैन का एक समृद्ध केन्द्र था। कलिंग का चेदि शासक खारवेल भी जैन धर्म का महान संरक्षक था। उसने जैन साधुओं के निर्वाह के लिये प्रभूत दान दिया तथा उनके निवास के लिये गुहाविहार बनवाये थे। राष्ट्रकूट राजाओं के शासन काल (9 वीं शताब्दी) में दक्षिणी भारत में जैन धर्म का काफी प्रचार हुआ। गुजरात तथा राजस्थान में जैन धर्म 11 वीं तथा 12 वीं शताब्दियों में अधिक लोकप्रिय रहा। इस प्रकार जैन धर्म समस्त भारत में फैल गया। अपने संगठन की उत्कृष्टता तथा अनुयायियों की कट्टरता के कारण वह आज भी भारत में अपना अस्तित्व सुरक्षित किये हुये है।

जैन धर्म का स्वरूप निश्चित करने में बल्लभी की महासभा का विशेष योगदान रहा है। यह छठीं शताब्दी में देवऋद्धिगणि (क्षमाश्रमण) की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई। इस समय तक पाटलिपुत्र की राभा द्वारा निर्धारित किये गये सिद्धांत अव्यवस्थित तथा क्रमशः विलुप्त हो चुके थे। अतः इस सभा में उनका नये ढंग से निर्धारण एवं सम्पादन किया गया। इस सभा द्वारा निर्धारित किया गया जैन धर्म का स्वरूप आज तक विद्यमान है।

15.7 भारतीय संस्कृति को जैन धर्म का योगदान

1. दर्शन के क्षेत्र में देन

जैन धर्म ने भारतीय दर्शन के क्षेत्र में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। जैन धर्म में अनेक नए सिद्धांतों का प्रतिपादन किया जो मौलिक थे। उदाहरण के लिए जैन धर्म के स्यादवाद को लिया जा सकता है। स्यादवाद का अर्थ सभी दृष्टिकोण से देखने पर सत्य के रूप देखे जा सकते हैं। इनमें हर विचार सत्य ही व्यक्त करता है। स्यादवाद के अतिरिक्त अनेक मौलिक सिद्धांतों को जैन धर्म में भारतीय संस्कृति को प्रदान किया। इसके विषय में अनेकांतवाद का सिद्धांत बहुचर्चित है।

2. सामाजिक देन

जैन धर्म की सामाजिक क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण देन है। जैन धर्म को आश्रय देने वाले राजाओं ने समाज के निर्धन वर्ग के लिए अनेक औषधि घर और विश्रामालय और पाठशालाओं का निर्माण कराया। जहां निशुल्क दवाइयां ठहरने की सुविधा और शिक्षा की व्यवस्था उपलब्ध कराई। इससे समाज के अन्य वर्गों में भी निर्धनता के प्रति दया भाव व दान देने की भावना जागृत हुई। इसके अलावा जैन धर्म में स्त्रियों की स्थिति सुधारने के लिए भी प्रयास किया। इस उद्देश्य से उन्हें जैन संघ में रहने वाले जैन शिक्षाओं का पालन कर मोक्ष प्राप्त करने का भी अधिकार जैन धर्म के द्वारा ही किया गया था।

महावीर के समय में जाति प्रथा प्रचलित थी और समाज में ऊंच–नीच हुआ छुआछूत की भावनाएं थी। इस कारण निम्न वर्ग की स्थिति सोचनीय थी। जैन धर्म ने ना केवल जाति प्रथा का विरोध किया बल्कि सभी व्यक्तियों को एक समान बताया। जैन धर्म के द्वारा जाति प्रथा का विरोध करने के कारण ब्राह्मणों की शक्ति कम होने लगी व सामाजिक समानता की भावना अच्छी होने लगी। जिससे शूद्रों (निम्न वर्ग) की स्थिति में सुधार हुआ। जैन ग्रंथ में वर्णन है कि मालिकों को अपने दास, दासियों, कर्मचारियों का अच्छी तरह से सेवा करना चाहिए। इस प्रकार की शिक्षा से समाज में निम्न वर्ग और दासों के प्रति उदारता एवं सहृदयता के भाव जागृत हुए जिसका सीधा प्रभाव उनकी सामाजिक स्थिति पर पड़ा।

3. धार्मिक देन

जैन धर्म ने ब्राह्मण धर्म की बुराइयों की आलोचना भी की। अतः ब्राह्मणों को भी उनके धर्म में उपस्थित बुराइयों व कुरीतियों का ज्ञान हुआ। ब्राह्मणों को अपने धर्म को बनाए रखने के लिए यह जरूरी हो गया कि वह अपने धर्मों में सुधार कर लें। अतः जैन धर्म के कारण ब्राह्मण धर्म पहले की अपेक्षा अधिक सरल हो गया।

4. साहित्यिक देन

जैन धर्म के द्वारा लोक भाषा में साहित्य की रचना की गई। लोक भाषा को समृद्ध बनाने में जैन धर्म का महत्वपूर्ण योगदान है। जैन धर्म के मूल धार्मिक ग्रंथों में 12 अंग 11 उपांग 10 पैन्न 5 मूलसूत 1 नंदीसूत और 7 छयसूत भी प्राकृत भाषा में है। कुछ धार्मिक ग्रंथों की रचना अपभ्रंश भाषा में हुई है। दक्षिण भारत के साहित्य में

भी जैन धर्म का अत्यधिक प्रभाव है। दक्षिण भारत में जैन धर्म के प्रचार हेतु कन्नड़, तमिल, तेलुगु और अन्य भाषाओं में भी जैन ग्रंथों की रचना की गई। जैन धर्म के विद्वानों ने ना केवल धार्मिक व दर्शनिक रचनाओं का सृजन किया बल्कि उन्होंने व्याकरण काव्य और गणित आदि पर भी अनेक ग्रंथों की रचना की। गुप्त काल में संस्कृत भाषा के अधिक लोकप्रिय होने के कारण जैन विद्वानों ने अपने धर्म ग्रंथों की संस्कृत में भी रचना की। 11वीं शताब्दी में हेमचंद्र सूरी नामक जैन विद्वान में संस्कृत में ही अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथ का सृजन किया। सभी जैन साहित्यकारों में हरीभद्र सिद्ध सेन आदि के नाम बहुचर्चित है। इनमें से सबसे ऊंचा स्थान हेमचंद्र सूरी का ही है।

5. कला के क्षेत्र में देन

जेल साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं के द्वारा भारतीय साहित्य को समृद्ध बनाया। जैन कलाकारों ने अपनी कलाकृतियों के द्वारा भारतीय कला के क्षेत्र में बहुत वृद्धि की। जैन धर्म के अनुयायियों ने अपने धर्म के प्रचार एवं प्रसार के लिए पूज्य तीर्थ कारों की स्मृति को स्थाई बनाए रखने के उद्देश्य से मंदिरों, स्तूपों, मठों, रेलिंगों, प्रवेशद्वार, स्तंभों, गुफा व मूर्तियों का निर्माण कराया। दूसरी सदी में जैन धर्म के प्रचार के लिए हाथीगुम्फा नामक गुफाओं में अनेक कलाकृतियों का निर्माण किया गया। इसके अलावा राजगृह, पावापुरी, पार्श्वनाथ, पर्वत, सौराष्ट्र राजस्थान और मध्य भारत में अनेक जैन मंदिरों व मूर्तियों का निर्माण कराया। राजस्थान में आबू पर्वत पर तथा बुंदेलखंड खजुराहो ने 11वीं शताब्दी में निर्मित मंदिर वस्तु कला एवं मूर्तिकला के अद्भुत नमूने हैं। दक्षिण भारत में श्रवणबेलगोला के निकट 70 फुट ऊंची गोमतेश्वर मंदिर व बड़वानी में 84 फुट ऊंची जैन तीर्थंकर की प्रतिमा दर्शनीय है। इन प्रतिमाओं का निर्माण विशाल चट्टानों को काटकर किया गया है। इसके अलावा जैन धर्मावलंबियों के द्वारा धर्म स्तंभों का भी निर्माण कराया गया। जिसका उदाहरण चित्तौड़ के दुर्ग में निर्मित स्तंभ है जिसका जैन कला के 11वीं व 12वीं सदी में अत्यधिक विकास हुआ था।

6. अहिंसा

जैन धर्म अहिंसा का सिद्धांत नहीं था किंतु उल्लेखनीय तथ्य यह है कि अहिंसा का प्रचार जितना जैन धर्म के द्वारा किया गया उतना किसी अन्य धर्म के द्वारा नहीं हुआ। जैन धर्म ने अहिंसा पर अत्यधिक बल दिया और महावीर ने पशु पक्षी तथा वनस्पति की हत्या ना करने का अनुरोध अपने अनुयायियों से किया। क्योंकि उनका कहना था कि वनस्पतियों में भी जीव होता है। जैन धर्म में अहिंसा के सिद्धांत व अनेक प्रकार के कारण वैदिक धर्म के अंतर्गत होने वाले यज्ञ में भी बलि प्रथा धीरे–धीरे कम होने लगी। जैन धर्म में अहिंसा के प्रचार में अपना सम्पूर्ण सहयोग दिया।

7. राजनीतिक प्रभाव

जैन धर्म के अहिंसा के सिद्धांत के प्रचार में तत्कालीन राजनीतिक स्थिति में भी प्रभाव पड़ा। जैन धर्म के अनुयायियों द्वारा शांति प्रिय नीति का पालन करने का प्रयास किया जाना इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि जैन साहित्य से तत्कालीन राजनीतिक स्थिति के विषय में अमूल्य जानकारी उपलब्ध होती है।

15.8 सारांश

जैन धर्म के समस्त निन्हवों में दिगम्बर–श्वेताम्बर मतभेद ही गंभीरतम था यही कारण है कि जैन धर्म स्थायी रुप से दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। दिगम्बर एवं श्वेताम्बर सम्प्रदाय के विषय में विस्तृत जानकारी देना यहाँ उचित प्रतीत नहीं होता तथपि इतना कहना पर्याप्त होगा कि दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष ने जैन मुनिसंघ के एक भाग को भद्रबाहु के नेतृत्व में दक्षिण की ओर विहार कर जाने के लिए विवश किया और जो मुनि मगध में रह गये थे उन्हे खण्ड वस्त्र धारण करने की छूट दे दी गई। ये अर्धफलक मुनि हो श्वेताम्बरों के पूर्व रुप थे। श्वेताम्बारों के अनुसार शिवभूति नामक साधु ने आवेश में आकर नग्नत्व स्वीकार किया था। अतः इन कथनों को स्वीकार करने के अपेक्षा यह कहना उचित होगा कि उस काल में ऐसे दो वर्गों का अस्तित्व था, जिनमें से एक शुद्धाचारी था जो नग्नता पर बल देता था और दूसरा वृद्ध तथा अक्षम जैन साधुओं का वर्ग था जो दिगम्बरत्व का समर्थक नहीं था। कालान्तर में यही दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों में प्रतिफलित हो गये होंगे।

15.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. जैन धर्म की प्राचीनता और उसकी उत्पत्ति का वर्णन कीजिये।

   ....

   ....

2. महावीर स्वामी के जीवन पद प्रकाश डालिये।

   ....

   ....

3. दिगंबर एवं श्वेताम्बर सम्प्रदायों में अंतर बताइये।

   ....

15.10 संदर्भ ग्रन्थ

गुप्ते, आर. एस. : आइक्नॉग्राफी ऑफ हिन्दूज, बुद्धिस्ट एण्ड जैन्स, बाम्बे 1980

अग्रवाल, वासुदेव शरण .इण्डिया एज नोन टू पाणिनी, 1953

अमलानंद घोष .जैनकला एवं स्थापत्य, नई दिल्ली, 1975

जायसवाल के.पी. : अहिंसावाणी, 1957

मुनि कांतिसागर : खण्डहरों का वैभव, काशी, 1965।

मारूति नंदन प्रसाद, तिवारी .जैन प्रतिमा विज्ञान, वाराणसी, 1981।

कृष्णदेव : टेम्पल्स ऑफ नार्थ इण्डिया,1975।